(आनन्दवनग्रन्थमालायाः पञ्चमं कुसुमम्)

सवार्त्तिकं सानुवादं नारदीयं

भक्तिदर्शनम्

[द्वितीय भाग]



संशोधित मूल्य

४०-००

रहस्यविवरणकारः—

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

प्रकाशक—

श्री स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट

सेठ केवलराम की स्मृति में

१०००=००

सेठ केवलराम घनश्यामदास चेरिटेबुल ट्रस्ट की ओर से
श्रीमती मथुरी बाई
श्रीमान् दामोदर दास
श्रीमान् गिरिधर दास
श्रीमान् मुरलीधर और
श्रीमान् पीतांबर दास
ने पुस्तक मुद्रणार्थ प्रदान किया

मूल्य ३)

प्राप्ति स्थान :—
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली बंबई ६७

मुद्रक :—
गीताधर्म प्रेस,
मिश्रपोखरा,
वाराणसी।

श्रीः

भक्तिसूत्र तथा वार्त्तिक

नारदीय भक्ति-सूत्र यद्यपि पादादि विभाग के बिना ही उपलब्ध होते हैं। योग सूत्रों में जैसे समाधिपाद साधनपादादि विभाग हैं, वैसे यहां विभाग नहीं है। तथापि वार्त्तिककार ने स्वीय व्याख्या में सूत्रों को तीन विभागों में विभक्त किया है। प्रथम लक्षण खण्ड द्वितीय साधन खण्ड और तृतीय अनुष्ठान खण्ड। मुख्य विषयानुसार ये विभाग हैं। वैसे तो लक्षण खण्ड में भी साधन वर्णन है और साधन खण्ड में भी क्वचित् लक्षण उपलब्ध हैं तथापि मुख्यता लक्षणादि खण्डों में लक्षणादि की ही है अतः यथोक्त तीन विभाग उपपन्न हैं। क्योंकि इस प्रकार का ईषत् सांकर्य सर्वत्र ग्रन्थों में देखने में आता है! अस्तु—

मुख्यरूपेण हम यहां भक्तिसूत्र तथा वार्त्तिक के विवेचनीय विषय का ही विचार करने के लिये प्रस्तुत हुए हैं! भक्ति शास्त्र में ईश्वर का स्वरूप क्या है? जीव तथा जगत् की स्थिति कैसी है इत्यादि कई वातें ज्ञातव्य हैं। यद्यपि सूत्रकार नारद जी ने इन सब विषयों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला है। क्वचित् प्रकाश डाला भी तो वह नहीं के बराबर है। उसमें हेतु स्वयमेव नारद जी ने यह बताया कि 'वादोनावलम्ब्यः'—वादविवाद में मत पड़ो। वादविवाद में क्यों नहीं पड़ना चाहिये यह भी स्वयमेव बताया—'बाहुल्यावकाशादनित्यत्वाच्च' वादविवाद तो बढ़ता ही जाता है। कोई निष्कर्ष सामने आता भी नहीं। और आ भी गया तो भी वह स्थायी नहीं होता। कालान्तर में फिर उसका खण्डन मण्डन हो जाता है। नारद जी का उक्त कथन कितना सत्य है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या सिद्ध करते रहे और करते आ रहे हैं। तथा द्वैतवादी जगत् को सत्य सिद्ध करते आये और करते आ रहे हैं। आगे भी दोनों यह काम करते भी रहेंगे। अद्वैतवादी कहते हैं हमारी जीत हो गयी

और द्वैतवादी कहते हैं कि हमारी जीत हो गयी। इतना ही नहीं इससे आगे जाकर परस्पर गाली भी देने में किसी ने कसर उठा नहीं रखा। अद्वैतवादी द्वैतियों को अवैदिक एवं मीमांसाज्ञानशून्य कहते हैं और ठीक विपरीत द्वैतवादी अद्वैतवादी को। द्वैतवादी तो अद्वैतवादी को मायावादी-मायावी असुर तक कहने लगे। और इससे भी बढ़कर अनेक अनेक गालियां निकालीं। भारतवर्ष का दुर्भाग्य यहीं से प्रारम्भ होता है। अपने को आचार्य कहने वाले भी ऐसी ऐसी असभ्य गालियां देने में पीछे नहीं रहे। जिससे परस्पर विश्रृंखलता, रागद्वेष, ईर्ष्या आदि के कारण भारतीय एकता को भारी धक्का पहुंचा और यवन आंग्लादि ने उससे लाभ उठाकर भारत को दास बनाने तक में सफलता पायी।

ऐसी स्थिति में सूत्रकारानभिमतवादविवाद को वार्त्तिककार ने क्यों उठाया ऐसा प्रश्न हो सकता है। उत्तर यही है कि यहां वादविवाद नहीं उठाया गया है किन्तु नानावादों का यथाकथंचित् समन्वय करने का प्रयास किया गया है। अर्थात् इतने वादविवादों के बाद कई भी अध्यात्मपथगामी उनसे अछूता रह जाय। यह असंभव न होने पर भी अधिक संभव भी नहीं है। अतः कुछ न कुछ इस विषय में कहना आवश्यक ही हो जाता है। कोई अर्धपक्क, ईश्वर को भी मिथ्या कहकर विमार्गगामी हो जाय तो उसके लिये कुछ कहना उपयुक्त भी है। श्रद्धा है मन में, किन्तु क्या सिद्धान्त मानें ऐसे संशयावसर में भी विचार काम दे सकता है। अतएव वार्त्तिक कार ने जीवेश्वरादि के बारे में कुछ विचार प्रस्तुत कर ही लिया। मुख्यतया तो भक्ति के स्वरूपादि के बारे में ही वार्त्तिक में भी विचार किया गया है जो विशेषतया किसी वादविवाद का मूल नहीं बनता। इन सब विचारों को ही हम प्रथम यहां प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

जीव का स्वरूप

वार्त्तिककार ने अधिकतर भी श्रीधरस्वामी का ही सिद्धान्त अपनाया है। तदनुसार जीव और ईश्वर का सर्वथा भेद वार्त्तिक कार को अभिमत नहीं है। "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" इत्यादि सन्तवचनों में जो अर्थ अभिव्यक्त होता है वही वार्त्तिककार को अभिमत है। जीव और ईश्वर में परस्पर भेद न होनेपर

भी भक्ति प्रयोजक कुछ वैलक्षण्य भी है। इसका स्पष्टीकरण इसी लेख में हमें आगे करेंगे। देवर्षि नारदजी का इस विषय में कितना अनुमोदन मिलता है इस विषय में इदमित्थं रूपेण कुछ कहना कठिन है। तथापि एक सूत्र में कुछ सूचना अवश्य मिलती है--"तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्" भगवान् में और भगवद्भक्त में कोई भेद नहीं रहता। यद्यपि यहां खींचातानी कर दूसरा भी अर्थ हो सकता है। दुर्लभता अमोघता आदि दृष्टिसे अभिन्न जैसे हैं ऐसी व्याख्या संभव है। और उसमें युक्ति भी यह दी जा सकती है कि महत्कृपा और भगवत्कृपा को पृथक् करके नारदजी ने कहा। परंतु हम उस खींचातानी में नहीं पड़ना चाहेंगे। यथाश्रुत अर्थ तो भेदाभाव ही है। परंतु पृथक् कथन से कुछ भेद भी प्रतीत होता है। भेदाभावक लीन वह भेद कैसा ? इसका उत्तर हम आगे कहने जा रहे हैं यह पूर्व ही वता चुके। परंतु फिर यह प्रश्न उठता है कि भगवान् और भक्तजन में भेदाभाव हो, पर जो अभक्तजन हैं क्या उनके साथ भेद रहता है ? यदि रहता है तो यह जीवसामान्यस्वरूप निरूपणोपयोगी नहीं है। यदि नहीं तो 'तज्जने' विशेषण व्यर्थ है। इसका उत्तर यही है कि विलक्षण भेद के अग्रिम स्पष्टीकरण से इसका भी स्पष्टीकरण होगा।

भागवत् का स्वरूप

भगवत् के स्वरूपविचार में अनेक विषय विचारणीय आते हैं। जीव के बारे में तो नामरूपादि मिथ्या कहकर छुट्टी पायी जा सकती है। परंतु भगवान के बारे में इतना शीघ्र अवकाश नहीं मिल सकता। भगवान् साकार हैं या निराकार। साकार में भी आकार सत्य है या मिथ्या। भगवान के नाम धामादि हैं या नहीं, हैं पक्ष में भी वे मिथ्या या सत्य इत्यादि अनेक विषय उपस्थित होते हैं। इनमें प्रथम हम स्वरूप विचार करेंगे। भक्तिसिद्धान्त में भगवान् स्वयं प्रेममूर्त्ति हैं। प्रेम का एक मूर्त्तरूप ही भगवान् है और वह चैतन्यात्मक भी है। प्रेम एक विलक्षण वाचामगोचर अनन्त अपरा अपरिच्छिन्न तत्त्व है। वही परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप है ! वही स्वयं लीलया विग्रह धारण कर राधा और कृष्णरूप होता है। वार्त्तिक में मंगलाचरण के रूप में उसी का उल्लेख किया है—

विशुद्धप्रेमपूर्णाब्धिलीलाकल्लोलवर्ष्मणे ।
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय जगतामन्तरात्मने ॥

विशुद्ध प्रेम परिपूर्ण सागरोपम है अपरिच्छिन्न है । उस प्रेमसागररूप भगवान् लीला से विग्रह धारण करते हैं । जैसे समुद्र में कल्लोल तरंग वही श्रीकृष्णचन्द्र अर्थात् श्री=राधा सहित कृष्ण है । भगवान् का शरीर प्रेममय होता है । वह भौतिक नहीं होता । उसे कुछ लोग चिन्मय भी कहते हैं । यद्यपि चिन्मय शब्द ज्ञानशास्त्र संस्कार से प्रयुक्त हुआ है । क्योंकि यहाँ जड़ चेतन विभाग पर विशेष विवेचन नहीं होता । अतएव प्रेममय शब्द ही चिन्मय की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है ।

भगवान् और प्रेम

ऊपर हमने देखा कि भगवान् ही प्रेम है और प्रेम ही भगवान् है । फिर भी भगवत् पद की व्याख्या करते समय कुछ विशेषता आती है । भगवत् का स्वरूप भक्तिशास्त्र में सच्चिदानन्दरसस्वरूप माना है । इनमें सत् चित् और आनन्द तो वेदान्तमतानुसार भक्तिशास्त्र में भी स्वीकार किया है । परंतु इसके बारे में थोड़ा मतभेद आता है । वेदान्त मत में आनन्द ही रस है । परन्तु भक्तिशास्त्र में रस और आनन्द परस्पर उतना ही भेद रखते हैं जितना चित और आनन्द । अर्थात् वे दोनों पर्यायवाची शब्द नहीं है । यदि ऐसा होता तो "रस ँ ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" इस प्रकार श्रुति में भेदनिर्देश न होता । श्रुति का अर्थ है— रस प्राप्त होने पर ही आनन्द होता है । लोक में भी प्रेम होने पर पुत्रादि दर्शन से आनन्द होता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है । अतएव रस प्रेम को कहते हैं वह आनन्द से पृथक् है । फिर भी आनन्द का साधन मात्र नहीं, आनन्द की अभिव्यक्ति इससे ही यह अलग बात है, परन्तु प्रेम स्वयमेव पुरुषार्थ है । अस्तु इस विचार से यह अभिव्यक्त हुआ कि प्रेम केवल रसात्मक है और भगवान् सत्-चित्-आनन्द-रसात्मक है । यही भगवत् में और प्रेम में अन्तर है । वेदान्त मत में यद्यपि सत्-चित्-आनन्द का परस्पर भेद नहीं है । और भेद मानेंगे तो द्वैतापत्ति होती है । उसी दृष्टिकोण से विचार करने पर रस रूपी प्रेम का भी

सच्चिदानन्द से भेद नहीं होता। फलतः प्रेम में और भगवत् में कुछ भी अन्तर सिद्ध नहीं होता। परन्तु भक्तिशास्त्र में द्वैतापत्ति नाम का कोई भयकारण नहीं है। कारण भक्तिशास्त्र किसी मताग्रह को लेकर प्रवृत्त नहीं हुआ है। न हमें अद्वैत सिद्ध करना है और न द्वैत ही। वस्तु जैसी है वैसे समझना है। वेदान्ती 'सत्-चित्-आनन्द' इन तीन शब्द का प्रयोग एक अर्थमात्र को उपस्थित करने के लिए पर्याय रूप से कहते हैं या अर्थविशेष प्रतीत्यर्थ ? तो उत्तर स्पष्ट है कि अर्थ विशेष प्रतीत्यर्थ ही कहते हैं। उसमें आपको जितनी विशेषता की आवश्यकता है उतनी ही विशेषता मान लीजिये; अधिक भेद करने के लिए हम भी नहीं कह रहे हैं। क्या इनमें भेद है यह लौकिक शब्द से अभिव्यक्त करना अशक्य है अतएव यदि अभेद कहते हैं तो भी हमें स्वीकार्य है। क्योंकि इन सबका भेद लौकिक शब्दागम्य है। केवल सत्-चित्-आनन्द ही नहीं, नाम-धामादि सभी इसी प्रकार हैं।

—: नाम धामादि की सत्यता :—

श्री श्रीधरस्वामी ने भगवत्पाद शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त का अंगीकार किया है। फिर भी उन्होंने नाम धामादि को सत्य माना। नाम धामादि सत्य हैं तो अद्वैत कैसा ? यह प्रश्न अवश्य उठता है। परन्तु उसका उत्तर आसान है। जैसे ब्रह्म के ही स्वरूप विशेष सत्‌चित् आनन्द हैं वैसे नाम धाम भी भगवत् के ही स्वरूप विशेष हैं। सत् चित् आनन्द सुनते समय पृथक् प्रतीत होते हैं फिर भी अद्वैत है ऐसा मानने में कोई अड़चन सामने नहीं आती। यद्यपि श्रुतियों में नानात्व का प्रतिषेध किया—"मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति" नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध है। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि शब्दगम्य नानात्व का ही श्रुति निषेध करती है और कर सकती है। क्योंकि आखिर श्रुति भी तो शब्द ही है। सत् चित् आनन्द इन तीन में ऐसा कोई भेद नहीं है जिसको शब्द अभिव्यक्त कर सके। अतएव शब्दगम्य भेद का वहाँ निषेध है। जहाँ शब्द पहुँच ही नहीं पाता—"यतोवाचो निवर्त्तन्ते" उसका निषेध शब्द कैसे करेगा। अतएव नानात्व निषेध से नाम धामादि की व्यावृत्ति नहीं हो सकती।

—: दिव्य अदिव्य विभाग :—

वस्तुतः भक्ति शास्त्र की यही मान्यता है कि सत् आदि का दिव्य अदिव्य ऐसे दो विभाग हैं। घटादि सत् है यहाँ अदिव्य सत् है लौकिक सत् है और 'परमेश्वर सत् है' यहाँ दिव्य सत् है। घटादि सत् में उस दिव्य सत् का आलोकन कीजिये। वेदान्त मत में अस्ति भाति प्रियरूपेण जो जगत् दीखता है उसमें 'अस्ति' यह ब्रह्म सत्ता को लेकर ही है ऐसा सिद्धान्त है। इसी प्रकार लौकिक ज्ञान अदिव्य है, भगवत् रूपी ज्ञान दिव्य है। लौकिक ज्ञान में बिम्ब रूप से दिव्य ज्ञान का आलोकन कीजिये। लौकिक सुख अदिव्य है। भगवत् रूपी सुख दिव्य है। लौकिक अदिव्य सुख में बिम्बरूप से दिव्यसुख को देखिये। क्योंकि श्रुति कहती है—"अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" भगवत् के आनन्द की मात्रा अर्थात् छाया मात्र लौकिक सुख है। अतः लौकिक आनन्द के भी मूल में बिम्बरूप से ब्रह्म आनन्द स्थित है। अब आगे बढ़िये लौकिक उच्चारण जन्य नामादि अदिव्य है किन्तु भगवत् रूपी नाम दिव्य है। लौकिक नाम में भगवत् नाम की मात्रा है उस लौकिक नाम से भगवत् रूपी नाम की अभिव्यक्ति कीजिये। फरक इतना ही है कि लौकिक ज्ञान में "प्रतिबोधविदित" दिव्यज्ञान ढूँढ़ने पर मिलता है किन्तु लौकिक नाम में ढूँढ़ने से नहीं किन्तु उच्चारण करने से दिव्य नाम की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार लौकिक धाम वृन्दावनादि अदिव्य है परन्तु उनमें दिव्यधामादि की छाया है। लौकिक धामाद्यवलोकन कर भक्ति के द्वारा दिव्यधामादि का दर्शन कीजिये। लौकिक सत् चित् आनन्द नाम एवं धामादि परस्पर भिन्न हैं। परन्तु दिव्य सत्-चित् आनन्द नाम तथा धामादि परस्पर भिन्न नहीं हैं। फिर भी कुछ वैलक्षण्य है जो वाणी का विषय नहीं हो सकता।

—: भगवत्पाद शंकराचार्य तथा दिव्यतत्त्व :—

ऊपर हम कह आये हैं कि श्री श्रीधर स्वामी ने भगवत्पादीय अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार करके भी नाम धामादि की सत्यता मानी। अद्वैत होते हुए नाम धामादि नानात्व किस प्रकार ? इस प्रश्न का उत्तर भी यह आ गया कि लौकिक

भेद जो भेदपद का वाच्यार्थ है, वह उस ब्रह्म में नहीं, तथापि सत् चित् आनन्द जिस प्रकार वाणी के अविषय वैलक्षण्य रखते हैं वैसे नाम धामादि में भी है। अब विचारणीय विषय यह है कि भगवत्पाद शंकराचार्य इस तथ्य को स्वीकार करते रहे या नहीं। उन्होंने शब्द विषय नानात्व मात्र का निषेध किया या दिव्य-अदिव्य समस्त नानात्व का। इसके उत्तर में जहाँ तक हमारा ख्याल है, आचार्य ने शब्दगम्य लौकिक नानात्व का ही निषेध किया है। गीता-भाष्य के उपोद्घात में आचार्य कहते हैं:—"सच भगवान ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वांमायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते" यहाँ लौकिक देहधारण तथा जन्म को माया कल्पित कहा। परंतु ज्ञानैश्वर्यादि को मायाकल्पित नहीं बताया। ज्ञानैश्वर्यादि से भगवान को नित्यसंपन्न कहा। ब्रह्मसूत्रभाष्य में भी देखिये:—प्रथमसूत्र में, "ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम्" अर्थात् जिस ब्रह्म के ज्ञान से परमपुरुषार्थ मोक्ष होता है द्वितीयसूत्र में उसी का लक्षण है। अर्थात् द्वितीयसूत्र में लक्ष्यमाण ब्रह्म प्रथम-सूत्रोक्त ब्रह्म से अलग नहीं। प्रथमसूत्र में तो कार्यब्रह्मादि की जिज्ञासा नहीं बतायी यह सुनिश्चित है। अब द्वितीयसूत्र में भाष्य देखिये:—"अस्य जगतः ...... जन्म स्थितिभङ्ग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद् ब्रह्मेति वाक्यशेषः" यहां 'जन्मस्थितिभङ्ग यतः' यह तटस्थलक्षण हो सकता है। परंतु सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः यह स्वरूपलक्षण ही है। अतएव अन्त में "नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव सर्वज्ञ-सर्व-शक्ति यहां 'सर्व' इतना उपलक्षणात्मक है तथापि विलक्षण ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति तो स्वरूपभूत है यह सूचित होता है। इस प्रकार के अनेकवाक्य ब्रह्मसूत्र भाष्य में भरे पडे हैं। अवश्य ही सत्तत्वचित्तत्व-ज्ञानतत्त्व-शक्तितत्वादि में लौकिक भेद नहीं है फिर भी कुछ अलौकिक विलक्षणता भी हैं अथ च ये मिथ्या भी नहीं हैं। भगवान् शंकराचार्य ने इनके सत्यत्व मिथ्यात्व के बारे में मौन धारण इस-लिये किया कि जो वाणी का अविषय हैं उसमें शास्त्रार्थ करना निरर्थक है। हम केवल इतना ही समझें कि भेद मिथ्या है। द्वैत यथार्थ नहीं है। अद्वैत ही परमार्थ है। और सत्-चित्-आनन्द-नाम-धाम ये सभी परमेश्वर के स्वरूपभूत

है सत्य हैं। इनके भेद अभेद की चिन्ता छोड़ देना ही उचित है। अतएव श्रीधर स्वामी का नामधामादि सत्यत्वसिद्धान्त भगवत्पादसिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। वार्त्तिककार ने त्रिसूत्रीवार्त्तिक में इन समस्त बातों का स्पष्टीकरण किया है। जिज्ञासुगण वहां से पूर्णतया अवगत कर लेंगे।

–प्रेमभक्ति के स्वरूप के बारे में नारदजी:–

नामधामादि के सत्यत्व और नानात्व के बारे में नारदजी क्या इंगित करते हैं इस विचार को प्रस्तुत करने से पूर्व हम प्रेम भक्ति के स्वरूप के बारे में नारद जी क्या कहते हैं इसी का अवलोकन करें। क्योंकि उसी से हमें उक्त विषय के बारे में इशारा मिल सकता है। अतएव भक्ति के बारे में और प्रेम के बारे में नारदजी क्या क्या कह गय यह बताने नहीं जारहा किन्तु कुछ विलक्षण बातें जो कह गये है उसी पर विचार करने जारहा हूँ। नारदजी के ये तीन सूत्र विशेषतया द्रष्टव्य हैं :—'सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा' (सू० २) 'नारदस्तु तदर्पिता खिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता च' (सू० १६) 'गुणमहात्म्यासक्ति··· ··· परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति (सू० ८२) इन तीन सूत्रों में परमप्रेम, परमव्याकुलता और परमविरह बताये हैं। इन तीन जगह ही नारद जी ने परमविशेषण जोड़ा है। इनमें परमप्रेम तो आसानी से समझ में आता है। परमव्याकुलता यह कुछ असमञ्जस सा लगता है। महती व्याकुलता, अतिव्याकुलता, अत्यन्त व्याकुलता इत्यादि शब्द प्रयोग सामान्यतया होता है। फिर भी यथाकथंचित् अर्थ बैठा दिया जा सकता है। परन्तु यह परमविरह क्या है? ऐसा शब्दप्रयोग लोक में नहीं होता। शब्द सरल होने पर भी अर्थ बड़ा पेचीदा लग रहा है। सूत्रों में नारदजी की यही एक विशिष्ट दक्षता स्पष्टतया दीखती है कि किसी अलौकिकतत्त्व को नारदजी सरल शब्दों में समझा रहे हैं। परमविरह का अर्थ है दिव्यविरह। अर्थ नित्य संयोग होने पर भी नित्यविरह। विरहप्रेम का पोषक है यह लोक प्रसिद्ध है। नित्यविरह से प्रेम नित्यपुष्ट रहता है यह नारदजी का अभिप्रेतार्थ है। नित्य संयोग और नित्यविरह परस्पर विरुद्ध

सा लगता है। लोक में ये दोनों साथ में असंभव है। यद्यपि लोक में भी संयोग काल में भी भाविविरहचिन्ता से विरहवेदना हो सकती है। तथापि वह भाविविरह में वर्त्तमानत्वाध्यास प्रयुक्त है। अतएव इतने से काम नहीं चल सकेगा इस आशय से नारदजी ने परमविरह कहा। फलतः लोकतः विरुद्धसदृस होनेपर भी दिव्यनित्यसंयोग तथा दिव्यनित्यात्व नारदाभिमत सिद्ध होता है। मुक्तिकाल में ये दोनों तत्त्व दिव्यतया रहते हैं। गुण माहात्म्यादि भी दिव्यतया वहां स्थित है। इससे यह निश्चित हुआ कि मोक्ष काल में भी भगवान् के गुणमाहात्म्यरूप नामादि, भक्ति के कान्ताभाव सख्यभावादि तथा दिव्यसंयोग एवं दिव्यविरह रहते हैं। यद्यपि ये सभी एक ही अद्वितीय प्रेमतत्त्व है। अतएव "एकधापि" ऐसा सूत्र में कहा। फिर भी एकादशधा। तात्पर्य लौकिक भेद नहीं, लौकिक दृष्टि से अद्वैत ही परमार्थ है तथापि वाचामगोचर तत्त्व को वाणी से ही कथंचित् बोधित करना चाहेंगे तो एकादशधा अर्थात् दिव्यनानात्व है ऐसा कहना होगा। इससे पूर्वोक्त सत्-चित्-आनन्द नाम-धामादिसत्यत्व भी नारदाभिमत सिद्ध होता है। इस विषय में स्पष्टीकरण गुणमाहात्म्यासक्त्यादि सूत्र में ही वार्त्तिककार ने किया है। विशेष जिज्ञासु इसे वहीं पर देखें। इस परमविरह की विवेचना के अनुरूप ही परमप्रेम और परमव्याकुलता की भी विवेचना अभीष्ट है। अर्थात् नित्यसंयोगकालीननित्यविरहप्रयुक्त विलक्षण व्याकुलता ही परमव्याकुलता है। नारदजी किस दक्षता से इसे उपस्थित करते हैं यह 'तद्विस्मरणे' इस शब्द से समझ सकते हैं। विस्मरण हो गया तो व्याकुलता किस बात को लेकर ? स्मरण बार बार हो रहा है परंतु मिलन नहीं होता ऐसी स्थिति में व्याकुलता प्रसिद्ध है। विस्मरण होने के बाद फिर स्मरण होने पर व्याकुलता ऐसा विवक्षितार्थ होता तो तद्विस्मरणात् ऐसा पञ्चम्यन्त प्रयोग करते। अतएव यह परम व्याकुलता भी आसानी से समझ में आने की नहीं है। इसी के अनुसार अब परम प्रेम का भी विश्लेषण करें। क्योंकि परम प्रेम का ही लक्षण परम व्याकुलता नारदमतेन बतायी है। "नारदस्तुतदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम व्याकुलता च" और इधर भक्ति को अमृतस्वरूप भी कहा। अमृत शब्द की दिव्यानन्दरसार्थता प्रसिद्ध है। फलतः

दिव्यानन्दरसप्रयोजक तथा परमव्याकुलता प्रयोजक तत्त्व ही परमप्रेम शब्द का अर्थ है।

सरलतम सूत्रों में देवर्षि नारदजी ने इस गहनतम अर्थ का विवेचन बड़ी ही निपुणता के साथ किया है। उसे समझने के लिए प्रस्तुत वार्त्तिक ग्रन्थ का भी महत्त्वपूर्णयोग प्राप्त हो सकेगा। यद्यपि—"उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ता यत्र प्रवर्त्तते" यह वार्त्तिक लक्षण प्रकृतवार्त्तिक में कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्वपक्ष उठ सकता है। उक्तार्थ चिन्तन तो ठीक ही है। अनुक्तार्थ चिन्तन भी यथाकथंचित् हो। किन्तु दुरुक्तार्थ यहाँ हैं नहीं और संभव भी नहीं। तथापि मन्दमतियों की दृष्टि में दुरुक्तार्थ जैसा जहाँ लगता है उसका पूर्वपक्षोत्तरपक्ष से दुरुक्तार्थ-चिन्तन की उत्पत्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक की उपपत्ति इसी प्रकार व्याख्याकारों ने की है। अस्तु।

प्रेमभक्ति के स्वरूप के बारे में वार्त्तिककार

प्रेम भक्ति के स्वरूप के विषय में वैचारिक जगत् को वार्त्तिककार एक नयी दिशा एक नया प्रकाश प्रदान करते हुए दीखते हैं। भक्ति या प्रेम चित्तवृत्ति-स्वरूप है ऐसा अनेक आचार्यों का मत है। "द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारा-वाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते" इत्यादि वचन भी उसके समर्थक हैं। इच्छावृत्ति ही वह है ऐसे कुछ लोग मानते हैं और अतिरिक्त ही प्रेमवृत्ति है ऐसे अन्य लोग मानते हैं और अन्य मनीषी उसे मायावृत्ति मानते हैं। परन्तु भक्तवर्ग इसे स्वीकार नहीं करते। भगवान् भक्ति-पराधीन हैं यह प्रसिद्ध है। मायावृत्ति या मायिक अन्तःकरण वृत्तियों के अधीन तो भगवान् नहीं हो सकते। अतः भक्तितत्त्व कुछ और ही हैं। वह तत्त्व क्या? इस विषय में अनेक भक्त यही कहते हैं कि भगवान् की ह्लादिनी शक्ति ही भक्ति है। वह जड़ नहीं, परमेश्वराभिन्न होने से चैतन्यमय है। परंतु वार्त्तिककार को यह तर्क पसंद नहीं आया। उनका कहना है कि शक्ति शक्तिमान् के अधीन होती है, न कि शक्ति के अधीन शक्तिमान्। यदि अपनी लीला से कदाचित भगवान् निजशक्ति के भी अधीन होते हैं, जैसे राधा के अधीन कृष्ण हो जाते

हैं, तो अपनी ही लीला से चित्तवृत्ति के भी अधीन मानने में क्या हानि ? भगवान् भाव के भूखे हैं, भावना के अधीन हैं इत्यादि प्रसिद्ध है। भक्तों की भावना तो उनकी चित्तवृत्ति ही है। क्योंकि भावना बदलती भी रहती है। फलतः वार्त्तिककार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत् चित् और आनन्द के समान रस भी परमेश्वर का स्वरूप है। वही वस्तुतः प्रेम है। जैसे भगवत्स्वरूप-चित्-चैतन्य ही वस्तुत: ज्ञानद्वैतद्ग्राहक चित्तवृत्तिविशेषको भी ज्ञान कहा जाता है वैसे भगवत्स्वरूप रस ही प्रेम द्वैतद्ग्राहक या तदभिव्यञ्जक चित्त-वृत्ति को भी प्रेम कहा जाता है। चित्त एक होन पर भी वृत्तियां विलक्षण होती है। जैसे रागवृत्ति द्वेषवृत्ति लज्जावृत्ति आदि परस्पर विलक्षण हैं। वैसे ज्ञानवृत्ति और प्रेमवृत्ति भी विलक्षण है। ज्ञानवृत्ति से चैतन्य अभिव्यक्त होता है ; प्रेमवृत्ति से रस अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार 'सर्वेशे मनसो वृत्तिः मनोगतिरविच्छिन्ना' इत्यादि वचनों की भी उपपत्ति है।

नामादिभक्ति

इसी प्रसंग में नामादिभक्ति के बारे में भी वार्त्तिककार ने कुछ नया प्रकाश डाला। जैसे ज्ञानवृत्ति से चैतन्य ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, और जैसे प्रेम-वृत्ति से रस की अभिव्यक्ति होती है वैसे लौकिक नामोच्चारण से क्रमशः दिव्य-भगवत्स्वरूप नाम की भी अभिव्यक्ति होती है। चित्तवृत्ति नष्ट होने पर भी अभिव्यक्त चैतन्य तथा रसनित्य रहता है वैसे नामोच्चारण नष्ट होने पर भी अभिव्यक्त नाम नित्य रहता है वह परमेश्वररूप ही है।

उपसंहार

आशा है कि भक्तिप्रियों को अपनी साधना के लिये कुछ नयी दिशायें प्राप्त होगी। मूल सूत्रों के अनुसंधान से तथा वार्त्तिक ग्रन्थ के परिशीलन से अनेक विवाद समाप्त होकर भक्ति के विषय में दृढता प्राप्त होगी। इति शम्।

फाल्गुन सुदी द्वादशी २०२७

एक भक्त

भूमिका

लेखकः—श्री १००८ स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर

ॐ

श्री परमात्मने नमः

भक्ति और वेद

भक्ति पर कुछ लिखा जाय उसके पूर्व 'भक्ति' का क्या लक्षण है—इस सम्बन्ध में यत्किञ्चित् विचार प्रस्तुत कर देना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि भारतीय सनातन शास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धिः' जिसका लक्षण नहीं, वह वस्तु ही सिद्ध नहीं। इसलिए शास्त्रकार सभी वस्तुओं का लक्षण बनाया करते हैं। इस मान्यता के अनुसार भक्ति का भी कोई लक्षण होना आवश्यक प्रतीत होता है। लक्षण प्रायः वाचक शब्द की निरुक्ति से ही बताये जाते हैं। अतः भक्ति शब्दार्थ के उत्तरोत्तर विकाश का विचार भी कर लेना आवश्यक है।

'भक्ति' शब्द भज सेवायां धातु से निष्पन्न होता है। यद्यपि 'प्रेमपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' इस अर्थ में प्रसिद्ध है। किन्तु भक्तिशब्द का अर्थ 'भाग, अवयव' भी होता है। आपाततः अर्थ भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि विचार करने पर पर्यवसान एक ही अर्थ में होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'भक्ति' और 'भाग' शब्द समानार्थक है। भाग शब्द लोकव्यवहार में अवयव अर्थ में भी प्रसिद्ध है। जैसे यह वस्तु देवदत्त का भाग है। वैदिकवाङ्मय में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में प्रायः मिलता है। ऋग्वेदसंहिता

८।२७।११ में 'भक्तये' यह चतुर्थी विभक्ति का रूप आया है। सका अर्थ भाष्यकारों ने 'संभजनाय, लाभाय' अर्थात् विभाग के लिए अथवा 'विभाग जनित' लाभ के लिए किया है। वेदमन्त्रों के अर्थ का परिचायक निरुक्त ग्रन्थ है; वह भी वेदाङ्ग होने के कारण वैदिक वाङ्मय में ही माना जाता है। उसमें भी 'भक्ति' शब्द का व्यवहार हुआ है। "तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्ति-साहचर्यं व्याख्यास्यामः" अर्थात् इन तीन लोकों के तीन मुख्य देवता हैं, अग्नि, वायु और सूर्य। अब उनकी भक्ति और साहचय की व्याख्या करते हैं। यहाँ भक्ति का अथ 'भाग' ही है। 'अथैतानि अग्नि भक्तीनि' निरुक्तकार ने कहा है कि ये सब अग्नि की भक्ति है, अर्थात् अग्नि देवता के भाग में आए हुए हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वैदिक वाङ्मय में भक्ति-शब्द उस अर्थ में नहीं मिलता, जिस अर्थ में आज कल प्रसिद्ध है किन्तु 'भाग' अर्थ में ही मिलता है। यही निरुक्तकार का तात्पर्य है।

कहीं कहीं पर उपनिषदों में प्रचलित अर्थ में भी 'भक्ति' शब्द आया है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः' इस नियम के अनुसार दोनों का नाम वेद है। 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" श्वेताश्वतर ६।६३ जिस पुरुष की देव में परा भक्ति है और देव के समान ही गुरु में भी भक्ति हो, उस पुरुष के हृदय में उपनिषद् के कहे हुए अर्थों का प्रकाश हो सकता है। यहाँ 'भक्ति' शब्द का श्रद्धा व प्रेम ही अर्थ है। इसी प्रकार कैवल्योपनिषद् में 'तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धा-भक्ति-ध्यानयोगाद्वैहि" ब्रह्माजी ने उपदेश किया उस परमतत्त्व को श्रद्धा-प्रेम-ध्यान रूप योग से जानो।

पूर्वोक्त वैदिक वाङमय के अनुसार ही यदि भक्ति शब्द का अर्थ लिया जाय तो 'ईश्वर की भक्ति करो' इस वाक्य का अर्थ होगा कि 'ईश्वर के भाग बनो' इसका समन्वय इस प्रकार से हो सकता है क्योंकि सभी ईश्वरवादियों के मत में अभिप्रेत अर्थ है कि जीव ईश्वर के अंश हैं। वेदान्त में भी अग्नि के विस्फुलिङ्गवत् अंशांशिभाव, प्रतिबिम्बभाव, अवच्छेदभाव रूप से जीव माना जाता

है। यहाँ इतना और भी समझना है कि तन्तुओं से जैसे पट अंशी होता है, ऐसा नहीं, किन्तु अंशों से ही अंश होता है। यथा प्रज्वलित अग्नि से चिनगारी पृथक् होकर इन्धन पाकर अलग अलग आयतन बना लेते हैं इसी प्रकार जीव भी ईश्वर से पृथक् होकर शरीररूपी आयतन बनाकर शरीर के स्वामी बन जाते हैं।

दूसरा—प्रतिबिम्बवाद में यथा एक ही सूर्य नाना जलपात्रों में नाना प्रतिबिम्ब बनते हैं और थोड़े अंश में प्रकाश भी करते हैं, उसी प्रकार एक ही ईश्वर भिन्न भिन्न अन्तःकरणरूपी उपाधियों में प्रतिबिम्बित नाना जीव है, थोड़ा ज्ञान का प्रकाश भी होता ही है। तीसरे अवच्छेदवाद में भी यथा अनन्त-अपरिच्छिन्न आकाश घट-मठ आदिरूप उपाधियों के घेरे में महाकाश से पृथक् होकर प्रतीत होने लगते हैं, वास्तव में पृथक् नहीं है। ये सब समझाने के लिये दृष्टान्त दिये जाते हैं।

प्रकृत में किसी भी प्रकार से विचार करें तो जीव स्वतः ईश्वर के भाग हैं। ईश्वर के भाग होते हुए भी भाग होने का ज्ञान इन्हें नहीं है। अपने आप को स्वतन्त्र मान बैठा है। इसलिए 'भक्ति करो' का मतलब होगा कि उनका अंश होना समझते। इससे जीव की भगवद्भक्ति सिद्ध हो जायेगी। क्योंकि भागरूप अर्थ बतानेवाला 'भक्तिशब्द' भगवान् के होने के कारण—प्रेम में चला जायेगा, पर्यवसान होगा। अतः भक्ति शब्द का अर्थ भगवान् का प्रेम ही होगा। इस रीति से 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' यह लक्षण चरितार्थ हो जाता है। एवं 'भजसेवायां' इस धातु का अर्थ सेवा ही हुआ। उस सेवा से प्राप्त होने वाला प्रेम भी 'भक्ति' शब्द का अर्थ प्रधानरूप से बना रहा। तथा भक्ति के आचार्यों ने भी कहा है—

"माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा॥"

भगवान् के माहात्म्य को जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़स्नेह होना ही भक्ति है। भक्तिरसायन कार ने भी कहा है—

"द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

तात्पर्य यह है कि कठिन चित्त को श्रवण-कीर्तन आदि उपायों द्वारा पिघलाकर तैलधारावत् एक अविच्छिन्न वृत्ति—सर्वेश्वर के तरफ लग जाय उसका नाम भक्ति है। अथर्ववेद की श्रुति भी रहती है—

"देव! संस्फान! सहस्रापोषस्येशिषे।
तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि तस्यते भक्तिवांसः स्याम ॥
(६।७९।३)

अर्थ—हे अभ्युदय-निःश्रेयस प्रदाता देव! तू आध्यात्मिकादि असंख्य पुष्टियों का स्वामी है। इसलिये हमें उन पुष्टियों का दानकर, उनको हमारे में स्थापन कर। अतः उस महान् अनन्त पुष्टिपति प्रभु की भक्ति से युक्त हम हों।

वेदों में नवधा भक्ति

१—श्रवण–भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' शु० यजु० २५।२१) इस मन्त्र में देवताओं से प्रार्थना की गयी है कि हम भद्रपदवाच्य परमेश्वर से नाम-गुण आदियों का श्रवण करें।

२—कीर्तन–स्थिरै रङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः'। अर्थ—मैं दृढ़ अवयव युक्त देह से उसी प्रभु का स्तवन रूप कीर्तन करता हुआ उस देव की प्रसन्नतार्थ अपनी सम्पूर्ण आयु व्यतीत करूँ। एवं सुष्टुनिमीरयामि, ऋग्० २।३२।८। मैं सम्यक् प्रकार से नाम आदि का गुण गान करूँ।

३—स्मरण—'स्तवामत्वा स्वाध्यः' ऋ० १।१६।९) 'भर्गो देवस्य धीमहि' (ऋ० ३।६२१०) यजु० (३।३५) इन मन्त्रों में ध्यान—स्तवन रूप स्मरण भक्ति का वर्णन है।

४—पादसेवन—'पदं देवस्य भृग—८।१०२।१५' 'इदं विष्णुः' ऋग्—१।२२।१७। इन मन्त्रों में पादसेवन भक्ति का संकेत मिलता है।

५—अर्चन—'इन्द्राय मद्वने' भृग्० ८।९२।१९ 'अर्चत प्रार्चत' साम—४।२।३।३) इन मन्त्रों में अर्चन भक्ति का उल्लेख किया गया है।

६—वन्दन—नमः शंभवाय च भयो भवाय च' यजुर्वेद में वन्दन भक्ति का निरूपण है।

७—दास—'त्वं भाता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्'' इन भक्तों में—परमात्मा भाता माता-पिता है हम उनके सेवक है दास भक्ति का द्योतन है।

८—सख्य—'अस्य प्रियासः सख्ये स्याम' ऋग्—४।१७।९) 'स न इन्द्रः शिवः सखा' भृग्—८।९३) में सख्य भक्ति का निरूपण हैं।

९—आत्म निवेदन—'यदग्ने स्याममहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।' स्युष्टे सत्या इहाशिषः। इन मन्त्रों में आत्मनिवेदन भक्ति है जो मैं हूँ सोतू है तू है सो मैं हूँ। यहाँ निर्देश मात्र किया गया है।

दर्शनों में भक्ति

भारतीय दर्शनों का 'आत्मदर्शन' ही एकमात्र लक्ष्य है। वेदान्त की दृष्टि से आत्मा ही ब्रह्म है। यद्यपि अन्य दर्शनकार आत्मा ही ब्रह्म है इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु परम्परया उसी लक्ष्य को सिद्ध करते हैं। वास्तव में वेदान्त तो महावाक्य ही है। 'तत्त्वमसि' में तत् त्वं असि, यह तीन पद है। कुछ दर्शनकार तत् पद को प्रधान रूप से निरूपण करते हैं और कुछ त्वं पद को प्रधान रखकर। वेदान्त दर्शन 'असि' अभेद को बोध कराता है। अतः साक्षात् नहीं किन्तु तत् त्वं निरूपण द्वारा उसी को सिद्ध करते हैं। श्रुति भी—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'' ये तीन साधन आत्मसाक्षात्कार के निमित्त आवश्यक कहे गये हैं। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम् जिसके द्वारा सम्यक् प्रकार से सद्वस्तु का दर्शन हो। भगवान् श्रीकृष्ण

गीता में—'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति।' आत्मदर्शन के लिये या ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये 'निदिध्यासन' की आवश्यकता होती है। उसका भाव यही है कि एकाग्रचित्त से तन्मय होकर 'आत्मा को देखना। यह बात विचारणीय है कि किसी वस्तु के साथ तन्मय होने के लिये वस्तु में अनन्य भक्ति रखना, एवं उस वस्तु को छोड़ कर अन्य सभी वस्तुओं के प्रति सर्वथा वैराग्य प्राप्त करना आवश्यक है। यह प्रक्रिया सर्वत्र चरितार्थ हो सकती है। भगवान् के जो भक्त हुए है उनमें यह सब बाते घटती है। गोपियाँ भगवान् श्री कृष्ण की अनन्य भक्ता थीं, वे सब अपने बन्धु बान्धव आदि का त्यागकर श्री कृष्ण में अनन्य भाव से तन्मय हो जाती थीं, आजकल भी जो ईश्वर को नहीं मानते हैं वे—देश भक्ति, राष्ट्रभक्ति, समाज भक्ति को ही महत्त्व देते। देश व समाज के लिये तन्मय हो जाते हैं यहाँ तक कि प्राण को भी बलि चढ़ा देते है सर्वस्व देश के लिये न्योछावर कर दिये हैं कहने का तात्पर्य कि चाहे ईश्वर को माने या न माने सभी भक्ति तो करते ही हैं। योग दर्शन में ईश्वर प्रणि धानाद्वा' ईश्वर को सब समर्पण करने पर समाधि की सिद्धि होती है। नारद भक्ति सूत्र का दूसरा नाम 'भक्तिदर्शन' है। इसमें भक्ति का लक्षण-स्वरूप-फल-साधन आदि का विशेष रूप से वर्णन किया गया। 'सातुकर्मज्ञान-योगेभ्योऽप्यधिकतरा' भक्ति को ही श्रेष्ठ साधन बताया है।

वेदान्त के आचार्य आद्य भगवान् शंकराचार्य ने भी कहा है मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी" मोक्ष के अन्य सभी साधनों में भक्ति की पलरा भारी है। एवं श्री रामानुजाचार्य ने गीता भाष्य में कहा है पाण्डुतनय युद्ध प्रोत्साहव्याजने परमपुरुषार्थं लक्षण मोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञान-कर्मानुगृहीतं भक्तियोगम् अवतारयामास।" प्रत्येक दर्शन में निदिध्यासन को आवश्यक माना गया हैं। श्री रामानुज—मध्ववल्लभ—निम्बार्क चैतन्य प्रभृति द्वारा प्रतिपादित दर्शन तो भक्ति प्रधान ही है इसमें कोई विवाद नहीं है। उपनिषदों में ब्रह्म को रसरूप आनन्द रूप वर्णन द्वारा स्वाभाविक उसमें अनुराग भक्ति का ही प्रतिपादन हुआ है।

पुराणों में भक्ति

अपने यहाँ नाना पुराण है—फिर भी १८ पुराण तो प्रसिद्ध ही है। पुराणों में एक ईश्वर को अनेक नामों से निरूपण हुआ है। वेदों में "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" एक ही ईश्वर को तत्त्व-दर्शी लोगों ने अनेक नामों से कथन किया है। इसी बात को पुराणों में विस्तार से वर्णन किया है। इसी अभिप्राय को लेकर कहा गया है कि—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुप वृंहयेत।
विभेत्यल्प श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

जो मनुष्य पुराण-इतिहास का ज्ञाता न होकर वेदों की चर्चा करता है, उसे देखकर वेद भयभीत हो सोचता है कि कहीं मुझपर प्रहार न कर दे। वेद में कहे गये संक्षिप्त अर्थ को पुराणों में विस्तृत-सुलभ सरस ढंग से निरूपण किया गया है—

न मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्ष प्राप्तौ नगाधिप !।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम !॥
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीऽनात् ॥

(देवीभागवत ७।३७।२-३)

देवी भगवती स्वयं कहती है—हे नागेन्द्र ! मोक्ष प्राप्ति के कर्मयोग, ज्ञान-योग और भक्तियोग, ये तीन मार्ग प्रसिद्ध है। इन तीनों में भक्तियोग ही अना-यास प्राप्त होने वाला है, क्योंकि भक्ति काय एवं चित्त आदि को पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्ति के द्वारा सम्पादित हो सकता है। इसलिए भक्तियोग ही सुलभ जानना चाहिये। श्रीमद् भागवत में—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।"

(११।२०।३२)

जो कर्म तपस्या आदि द्वारा प्राप्त होता है वे सब मेरा भक्त भक्तियोग के द्वारा अनायास प्राप्त कर लेता है।

अपि च अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥
(भा०—१०।३३।३७)

भक्तों के प्रति अनुग्रह प्रकट करने के लिये मनुष्य के रूप में अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार की लीलाएँ भी करते हैं। जिनके श्रवण कीर्तन आदि द्वारा सहज ही भगवत्परायण हो जाता है।

यद्यपि पुराणों में देव भेद प्रतीत होते हैं, बड़े बड़े लोग भी विमोहित हो जाते हैं कि कौन बड़ा और कौन छोटा ? वस्तुतः एक ही है लीलाभेद से भेद है, वास्तविक नहीं। ऐसा समझकर निष्ठा श्रद्धा रख कर भक्ति करनी चाहिये।

शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः।
अन्तरं शिव विष्णोश्च मनागपि न विद्यते ॥
(काशीखंड २३।४१)

इन वचनों यही सिद्ध होता है कि पुराणों में देव भेद नहीं है। ईश्वर की भक्ति अमृत रूपा है—'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति' इस प्रकार भक्ति को प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। सभी पुराणों में विस्तार रूप से भक्ति तत्त्व का निरूपण हुआ है। यहाँ केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है। भक्ति के अनेक भेद हैं—सगुणा—निर्गुणा—भेद से दो विभाग ! सगुणा भक्ति पुनः—तामस, राजस—और सात्त्विक भेद से तीन प्रकार की होती है। निर्गुणा भक्ति ही अहेतु की, पराभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति आदि नामों से कही जाती है।

भगवद्विग्रह आदियों की दिव्यता

श्री भगवान के सभी अंग-प्रत्यङ्ग दिव्य स्वरूप ही माने जाते हैं। ब्रह्म के स्वरूप भूत लक्षण—सत् चित् आनन्द है। उसी प्रकार भगवान् के कर-चरण-

वदनादिमान् भी उनका स्वरूप ही है। भगवद् विग्रह स्वसत्तात्मक स्वाभाविक है। प्राकृतिक-परकीय गुणात्मक नहीं है। विद्वत्समाज में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि न किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः यदात्मको भगवान्। किमात्म को भगवान्? ज्ञानात्म को भगवान्अतः सिद्ध होता है कि भगवद्व्यक्ति-विग्रह आदि भगवत्स्व-रूप ही है। भगवान् का अवाङ्मनस अगोचर दिव्यरूप सभी शास्त्रों का एक मात्र लक्ष्य है। मन वाणी तो भौतिक पदार्थों का विषय करती है। भगवान् का स्वरूप तो दिव्यातिदिव्य है। जिस प्रकार पाषाण प्रतिमा का उपादान पाषाण है उसी प्रतिमा के चरण वदनादि भी पाषाण मय ही है। उसी प्रकार ईश्वर के सद्घन, चिद्घन आनदघन विग्रह का उपादान भी सद्आदि ही है कर चरणादि भी सद्घनादि रूप हैं। स्वयं भगवान भी कहा है—

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

लोगों का जन्म तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध जनित है। पूर्व कर्मों द्वारा रचित है यद्यपि भगवद्विग्रह में इन्द्रिय चिह्न आदि प्रतीत होते हैं। वे भक्तजन ध्येय होने के कारण लौकिक पुरुष के स्तन के समान केवल सौन्दर्य विधायक हैं। भगवान् का दिव्यविग्रहस्वेच्छामय है। 'निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुण गोपार है। अतएव चिन्मय ज्ञानमय आनन्दमय आदि शब्दों से अभिहित है। भक्तजन सच्चिदानन्द घन शब्द का प्रयोग किया करते है, जिसका अर्थ होता है सच्चिदानन्द मूर्ति घन शब्द का अर्थ मूर्ति होती है 'घनमूर्तौ' पाणिनीय सूत्र है। अतः ज्ञानीजन भी ब्रह्मानन्द रसानुभूति का परित्याग कर आनन्द मूर्ति के अवलोकन से समाधिस्थ हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहेतुकीं भक्तिमित्थं भूत गुणो हरिः॥

तथा भगवान् के गुणों का भी अन्त नहीं है—अवधि नहीं है श्रीमद्भागवत में कहा है—

योवा अनन्तस्य गुणानन्ता ननुक्रमिष्यन् सतु वालवुद्धिः ।
रजांसि भूमे र्गणयेत् कथञ्चित्, कालेन नैवाखिल शक्तिधाम्नः ॥

भगवान् को कृपा से भगवान् को देख सकता है। अतः अर्जुन को दिव्य नेत्र प्रदान किये—दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्यमे योग मैश्वरम् इत्यादि वचन से सिद्ध है। दूसरी बात है कि 'भगवद् विग्रह न तो मायिक है न भौतिक है न आविद्यक है, न कर्मजन्य ही है। यदि मायिक आदि होते तो ध्यान, दर्शन, स्मरण से अन्तःकरण की शुद्धि, तथा पाप की निवृत्ति कदापि नहीं होती। शास्त्रों में वर्णन है कि ध्यान-स्मरण-नाम संकीर्तन मात्र से जीव के पापों की निवृत्ति हो जाती है। यदि चिन्मय विग्रह नहीं हो तो पापों से छुटकारा हो सकता। श्रीधर स्वामी प्रभृति आचार्यों ने इसी अभिप्राय से भगवान् के विग्रह आदि को नित्य माना है। हाँ इतना आवश्यक है कि भगवान् अपने दिव्याति-दिव्य स्वरूप को कभी प्रकट कर लेते हैं और कभी तिरोभूत कर लेते हैं क्योंकि स्वेच्छामय है। यदि किसी अन्य कारण से निर्मित विग्रह होता तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। भगवान् अपने स्वरूप अणु से अणु और महान् से महान् करने में समर्थ है। 'अणो रणीयान् महतो महीयान्' श्रुति चरितार्थ हो जाती है। विद्वान लेखक ने स्वयं ही इस ग्रंथ में यत्र-तत्र इन बातों पर विशेष विचार व्यक्त किये हैं। पाठक वहीं देखने का कष्ट करें।

भक्ति के स्वरूप निर्णय में आज अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित है। ऐसी स्थिति में एक ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी जो मताग्रह से असंस्पृष्ट होकर शुद्ध विचार दे सके। यह प्रसन्नता का विषय है कि हमारे अन्यतममित्र निखिल निगमागम रहस्यवेत्ता न्याय वेदान्ताचार्य श्री स्वामी काशिकानन्दजी ने नारदीय भक्ति दर्शन पर 'वार्तिक' लिखकर इस आवश्यकता की पूर्ति कर दिया। भागवत जन इस ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों।

इति ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

फाल्गुन त्रयोदशी २०२७

किं च दुर्योधनादीनां कुतो नाभूत् परा गतिः ।
कारणान्तरमेवातः शिशुपालादिसद्गतौ ॥४६॥
भगवद्धस्तनिहता भगवन्तमवेत्य हि ।
अन्तकाले स्मरन्तस्तं शापमुक्ता ययुर्गतिम् ॥४७॥
धन्नालीलावतीदेवीमोहनाद्या अनेकशः ।
अमाहात्म्यविदोऽद्यत्वे भजन्तः प्रययुर्दिवम् ॥४८॥
न चाद्यत्वेऽवतारोऽभूदप्रसिद्धप्रकल्पने ।
भवद्भिर्भागवैयर्थ्यं कथं न स्याद्दुरुद्धरम् ॥४६॥
यदि माहात्म्यविज्ञानं धन्नादेः कल्पयेद्भवान् ।
कल्पयत्ववतारेऽपि ह्यन्तकालेऽत्र का व्यथा ॥५०॥
तस्माद् भवति सूत्रार्थस्त्वस्माभिरुपदर्शितः ।
अन्यथा भक्तिशास्त्राणां विरोधो दुर्धरो भवेत् ॥५१॥

उक्त व्याख्या पर हमारा वक्तव्य यह है कि व्याकरणानुसार विशेषण का पूर्व प्रयोग होना चाहिये था। दूसरी बात अवतारकाल में दुर्योधनादि की परमगति क्यों नहीं हुई ? शिशुपालादि की बात अलग है। वे तृतीय जन्म में शापमुक्त हुए। अन्त में भगवद्दर्शन-स्मरणादि उनको हुआ। तीसरी बात—धन्नाजाट, लीलावती, मोहन आदि आधुनिक माहात्म्यज्ञानरहित महाभक्त हो गये। उन्हें गति कैसे प्राप्त हुई। अभी तो कोई अवतार नहीं हुआ है। यदि कल्पना करो तो अवतार के बिना है कौन सा काल ? धन्ना आदि को हरिकृपा से अन्त में माहात्म्य ज्ञान हुआ ऐसी कल्पना करो तो गोपिका शिशुपालादि को भी माहात्म्यज्ञान अन्त में हुआ, ऐसी कल्पना करने में क्या आपत्ति ? अतः पूर्व दर्शित अर्थ ही सूत्र का उचित है ॥५१॥

नन्वत्रोत्तरसूत्रेण विरोधो भवतां मते ।
माहात्म्यज्ञानशून्यस्य जारप्रेमत्ववर्णनात् ॥५२॥
अत्रोच्यते नात्र सूत्रे प्रोक्ता माहात्म्यविस्मृतिः ।
किन्त्वाकूतविशेषेण माहात्म्यज्ञानविस्मृतिः ॥५३॥
ज्ञानात्मिका विस्मृतिर्वा ज्ञानपूर्णाथवाऽपरा ।
ज्ञानापोहनहेतुर्वा विस्मृतिर्ज्ञानविस्मृतिः ॥५४॥

शंकाः—माहात्म्यज्ञान शून्य प्रेम को आगे सूत्र में जारप्रेम बतायेंगे। अतः यहां माहात्म्य विस्मृति अर्थ ठीक नहीं। उत्तरः—माहात्म्य विस्मृति यहां लिखा नहीं है। माहात्म्यज्ञानविस्मृति लिखा है। ज्ञानात्मकविस्मृति, ज्ञानपूर्ण विस्मृति या ज्ञानापोहन विस्मृति उसका अर्थ है। अन्यथा ज्ञानपद व्यर्थ हो जायेगा ॥५२-५४॥

माहात्म्यज्ञानसत्त्वेऽपि विस्मृतिर्देवमायया ।
यतः प्रेम च लीला च द्वयं तावत्प्रसिद्ध्यति ॥५५॥
ज्ञानापोहनहेत्वर्थपक्षे तत्सावधारणम् ।
अपोह्यते ज्ञानमात्रं न तु तद्दृढवासनाम् ॥५६॥
सवासनज्ञानहीनं जाराणामिति वक्ष्यते ।
विहीनमिति तत्रैव विपदं तस्य बोधकम् ॥५७॥

ज्ञान होते हुए भी विस्मृति देवमाया से होती है। जिससे प्रेम और लीला दोनों सम्पन्न होते हैं। ज्ञानापोहन अर्थ में ज्ञान मात्र का अपोहन ऐसा अर्थ है। अर्थात् दृढ़ वासना का अपोहन नहीं। जारप्रेम में माहात्म्य ज्ञान और उसका संस्कार दोनों नहीं रहते। 'तद्विहीनं' में 'वि' उपसर्ग का यही अभिप्राय है ॥५७॥

सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपीत्यत्राप्येषैव पद्धतिः ।

सर्वथा ज्ञानराहित्यं तत्रापि न विवक्षितम् ॥५८॥

'सद्योनष्टस्मृतिः' इत्यादि श्लोक की उक्तरीत्या व्याख्या है ॥५८॥

ज्ञानं च विस्मृतिश्चेति द्वयं माहात्म्यगोचरम् ।
नापोह्यत इति व्याख्याकरणेऽप्यर्थतुल्यता ॥५९॥

माहात्म्य का ज्ञान और विस्मृति इन दोनों का अभाव नहीं अर्थात् दोनों रहते हैं ऐसा भी सूत्रार्थ सुगम है ॥५९॥

यशोदानन्दगोपाद्या नित्यलीलानुवेशिनः ।
नित्यमात्रादिभावास्त इत्यन्यत्र निरूपितम् ॥६०॥

यशोदा नन्दराय आदि नित्य लीलानिवेशी हैं। नित्य मातृभावादि युक्त हैं। अतएव सर्वज्ञ हैं इत्यादि अन्यत्र देखें।

तत्प्रेम तच्च माधुर्यं यतो ज्ञानेऽपि विस्मृतिः ।
धन्यं धन्यमनिर्देश्यमन्यन्मन्यामहे वयम् ॥६१॥

ॐ

अद्भुत है वह प्रेम और माधुर्य जिसमें ज्ञान और विस्मृति दोनों रहती हैं। यह कोई अन्य ही विलक्षण तत्त्व है ॥६१॥

ॐ

अन्तरात्मस्वरूपेण जानीयाद् व्यापकं न चेद् ।
स्वार्थं किंचिदपेक्ष्यैव हरौ प्रेमेति सिद्ध्यति ॥ १ ॥
न वै जायापतिब्रह्मवेदलोकात्मजन्मनाम्
देवानामपि कामाय प्रियास्ते ते भवन्ति हि ॥ २ ॥
आत्मनः खलु कामाय सर्वेऽप्येते प्रिया इति ।
याज्ञवल्क्योक्तितः प्राह स्पष्टं भगवती श्रुतिः ॥ ३ ॥

हरि को व्यापक अन्तरात्मा न समझने पर प्रेम में अवश्य

स्वार्थ होगा। 'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्यादि श्रुति में यह बात स्पष्ट की है ॥१-३॥

सेव्यते भगवान् कस्मात् प्रस्तरः किं न सेव्यते ।
अनपेक्षस्वभावत्वादुभयं तुल्यमेव यत् ॥ ४ ॥
माधुर्यसिन्धुर्भगवान्न तथा प्रस्तरो यदि ।
माधुर्यरससंभोगस्वार्थी किं न भवांस्तदा ॥ ५ ॥
तस्मादात्मैकरूपत्वमन्तरा प्रेम निर्मलम् ।
स्वार्थादिदोषकलुषशून्यं नेक्षामहे वयम् ॥ ६ ॥
सर्वथा भेदनिर्भेदे प्रेमापि स्यात् सुदुर्घटः ।
ज्ञानं च विस्मृतिश्चात उभयं प्रेमणि स्थितम् ॥ ७ ॥

भगवान की ही सेवा क्यों करते ? पत्थर की क्यों नहीं ? दोनों ही से आप का कोई मतलब तो है नहीं। यदि कहें कि भगवान् माधुर्य सिन्धु है, पत्थर नहीं तो आप माधुर्यरस के स्वार्थी मालूम पड़ते हैं। अतः आत्मस्वरूपता के बिना निःस्वार्थ निर्मल प्रेम नहीं हो सकता। किन्तु सर्वथा भेद न हो तो प्रेम बन भी नहीं सकता। फलतः ज्ञान तथा विस्मृति दोनों ही प्रेम में सिद्ध हुए ॥४-७॥

ये पुनः सर्वथाऽत्याक्षुर्माहात्म्यज्ञानयोगिताम् ।
तान् प्रतीदं ब्रवीति स्म परमप्रेमभूर्मुनिः ॥ ८ ॥

परन्तु जो सर्वथा माहात्म्य ज्ञान को छोड़ते हैं उनके प्रति परम प्रेम मूर्त्ति नारदजी का यह वचन है :—

❀ तद्विहीनं जाराणामिव ॥२३॥ ❀

माहात्म्यज्ञान विहीन प्रेम जारप्रेम समान है।

वदन्ति दृढसंस्कारमपि ज्ञानं मनीषिणः ।

सुषुप्तमपि निर्दिश्य शास्त्रं वेत्तीति भण्यते ॥१०॥
संस्काररूपतोऽप्येव ज्ञानं येषां न विद्यते ।
तानुपादाय तत्प्रेम तद्विहीनमितीर्यते ॥११॥

सुषुप्त पण्डित को भी यह शास्त्र जानता है ऐसा कहा जाता है। वहां ज्ञानपद का दृढसंस्कारमात्र अर्थ है। दृढसंस्कारमात्र भी माहात्म्य ज्ञान का न हो उसको लक्ष्य कर सूत्र में तद्विहीनं कहा ।११।

माहात्म्यज्ञानविरहे भक्तिः कामात्मिका भवेत् ।
प्राप्ते भोगे च सा क्षिप्रं जाराणामिव जीर्यति ॥१२॥

माहात्म्य ज्ञान न हो तो भक्ति कामात्मिका होगी और भोग प्राप्त होने पर जारप्रेमवत् जीर्ण भी होगी ॥१२॥

ननु ज्ञानयुतं प्रेम गोपिकासु न वीक्षितम् ।
काम एवाभवत्तासां तच्च भागवते स्फुटम् ॥१३॥
*कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्* ॥१४॥
इति पारीक्षिते प्रश्ने गोपीनामज्ञतेत्यते ।
तदुत्तरेऽपि नाज्ञत्वं परमर्षिन्यवारयत् ॥१५॥
*उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥१६॥
नृणां निश्श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१७॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदयमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१८॥

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते * ॥१६॥

पूर्वपक्षः—ऐसा प्रेम गोपियों में भी न था। उनमें भी काम ही था। राजा का प्रश्नः—कृष्ण को गोपियां कान्त (पति) समझती थी ब्रह्म नहीं, तब उनकी मुक्ति कैसे हुई ? प्रश्न में माहात्म्यज्ञानाभाव स्पष्ट है। उत्तर में भी शुकदेवजी ने खण्डन नहीं किया, बल्कि यही कहा कि शिशुपालादि द्वेष से भी भगवान को प्राप्त हुए तो काम से प्राप्त होने में कौन बड़ी बात ? भगवान का अवतार ही मानवकल्याणार्थ है। काम, क्रोधादि किसी भाव से भी भजें भगवन्मय होना निश्चित है। भगवान योगेश्वरेश्वर हैं अतः कोई विस्मय की बात नहीं है ॥१३-१६॥

किं चेतः प्राग्भवश्लोके जारबुद्धिं महामुनिः ।
व्याचष्टे खलु विस्पष्टं गोपिकानां व्रजौकसाम् ॥२०॥
* तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः * ॥२१॥

इससे पूर्व श्लोक में :—उस परमात्मा को जार बुद्धि से भी संगत गोपियाँ बन्धनरहित हो शरीर छोड़ गयीं। यहां स्पष्ट जारशब्द ही है ॥२०-२१॥

* गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः* ।
इत्यादौ च तथाऽब्रूत भगवान् बादरायणिः ॥२२॥
॥श्रीधरोऽप्याह विषयमहिम्नेति यतीश्वरः।
अबुद्धोऽपि विशिष्टोऽग्निर्दहत्येव विमर्शकम् ॥२३॥
॥गोपश्रीहरि ॥ कुरुक्षेत्रे पद्मनाभ भवत्पद्मम् ॥

गेहंजुषामपि मनस्युदियान्नः सदा प्रभो ॥२४॥
गेहं जुषामित्यतो हि गेहासक्तिः प्रतीयते।
न हि ज्ञाने च भक्तौ च गेहासक्तिः प्रकल्पते ॥२५॥

'गोप्यः कामाम्' ऐसे शुकदेवजी ने, विषयमहिमा से गोपियां मुक्त हुई अनजान में भी स्पष्ट अग्निदाह करती है ऐसे श्रीधर स्वामी ने, गृहसेवी हमारे मन में आप का चरण स्मरण हो इस प्रकार कुरुक्षेत्र में गोपियों ने भी बताया। इन सब वचनों से गोपियों में ज्ञान या यथोक्त भक्ति सिद्ध नहीं होती ॥२२-२५॥

अत्र ब्रूमो बभूवुर्हि गोप्यो नानाविधा व्रजे।
ऋषयः श्रुतयो देवा नित्यसार्थवहास्तथा ॥२६॥
एवमन्यविधाश्चापि वरप्राप्ताः सहस्रशः।
तासां काश्चिदविज्ञाततत्त्वा अपि समासत ॥२७॥
रासे तास्वपि काश्चिन्न प्रवेशमुपलेभिरे।
तासां बन्धनभूयस्त्वात्तत्यजुस्ताः कलेवरम् ॥२८॥
अज्ञाततत्त्वास्ता एव समुद्दिश्य महामुनिः।
गोप्यः कामादिति प्राह गोपीसामान्यशब्दतः ॥२९॥
गोपीगीतेऽन्तरात्मा दृक् त्वमस्यखिलदेहिनाम्।
इत्युक्तिरज्ञचित्तानां घटते न कथंचन ॥३०॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानामित्यन्यत्रोदितत्वतः।
गेहंजुषामिति पदं नासक्त्यावेदनक्षमम् ॥३१॥

समाधानः—गोपियां ऋषिरूपा, श्रुतिरूपा, नित्यसाथी, वरप्राप्त इत्यादि अनेक प्रकार की थीं। उनमें कुछ तो तत्त्वज्ञान रहित थीं

जिनमें कईयों को अधिक बंधन होने से रास में प्रवेश नहीं मिला और शरीर छोड़ना पड़ा। उन्हीं को लेकर गोप्यः कामान् कहा। सभी यदि अज्ञानी होती तो गोपी गीत में 'अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' कैसे बोलती। प्रारब्ध से हम भटक रही हैं ऐसा अन्यत्र जो बताया उतना ही अर्थ 'गेहंजुषां' का है न कि गेहासक्ति।

किं चात्र लौकिकः कामो गोपीनां नोपगम्यते।
विषयस्यात्मरूपत्वादात्मा कृष्णो हि देहिनाम् ॥३२॥
अत एव च जाराणामिवेतीवपदं मुनिः।
जग्राहात्रार्धसामान्याद् वृत्तिमात्रे तथात्वतः ॥३३॥

दूसरी बात—गोपियों में लौकिक काम नहीं था। क्योंकि विषय कृष्ण आत्मा था। इसीलिये 'जराणामिव' यहां इवपद है। आधी समता है। वृत्तिमात्र कामात्मक है ॥३२-३३॥

वृत्तिर्विलक्षणा काचिद् भवेत्प्रेमात्मिका हृदि।
विषयस्तस्य चात्मा स्यादेतत् प्रेम निगद्यते ॥३४॥
कामे तु काचिदपरा वृत्तिः कामात्मिका हृदि।
विषयस्तत्र चानात्मा शरीरादिरुदीर्यते ॥३५॥
यत्र स्याद्विषयस्त्वात्मा वृत्तिः कामात्मिका तथा।
अर्धसामान्यमेवात्र स कामसदृशो भवेत् ॥३६॥

एक है प्रेम वृत्ति, जिसका विषय आत्मा होता है। दूसरी है कामवृत्ति, जिसका विषय शरीरादि होते हैं। वृत्ति हो कामात्मिका और विषय हो आत्मा वहां अर्धसामान्य होने से कामसदृश माना जाता है ॥३४-३६॥

विषयैक्ये कथं कामप्रेमवृत्तिभिदेति चेत्।
विषयैक्येऽपि विद्वेषप्रेमवृत्ती यथा पृथक् ॥३७॥

विषयस्य प्रधानत्वात्प्रेमेदं मुनयो विदुः ।
वृत्तिप्राधान्यतस्तं हि काममन्ये प्रचक्षिरे ।३८॥
इत्थं च वचनं चेदं सतां भवति संगतम् ।
* प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्* ॥३९॥

प्रश्नः—आत्मा विषय है तो प्रेम काम वृत्ति भेद कैसे ? उत्तर:—जैसे द्वेष और प्रेम एक ही पर कालभेद से होता है। विषयप्रधानतया प्रेम और वृत्तिप्रधानतया काम कहा जाने लगा। अतएव गोपियों का प्रेम काम रूप से प्रसिद्ध हुआ यह वचन भी संगत होता है ॥३९॥

अत्रेदं परमं तत्त्वं ह्रस्वे कन् गोपिकापदे ।
तच्च कौमारलाभार्थं राधाद्याश्च तथाविधाः ॥४०॥
तासु माहात्म्यविज्ञानं विस्मृतिश्चोभयं स्थितम् ।
मुख्योदाहरणं तद्धि मुनिनात्र विवक्षितम् ॥४१॥
कासांचित्काम एवेति मुख्योदाहरणं न तत् ।
तज्जाराणामिवेत्युक्त्वा दर्शयामास नारदः ॥४२॥

कुछ रहस्यः—'गोपिका' यहां कन्प्रत्यय छोटी अर्थात् कुमारी गोपी लाभार्थ है। राधा आदि में माहात्म्यज्ञान विस्मृति दोनों रहीं। प्रेम में वे मुख्योदाहरण है। कुछ गोपियों में काम था। उनको लेकर 'जाराणामिव' कहा।

एतेन चाविशेषेण जाराणामित्यसंगतम् ।
द्वारावतीवासिनीषु ह्यज्ञासु तदयोगतः ॥४३॥
विधिना व्यूढपत्नीनां जारीयं प्रेम नेष्यते ।
इत्यपास्तं प्रसङ्गेन प्रकृते गोप्युदाहृतेः ॥४४॥

शंकाः—माहात्म्यज्ञानहीन सारा प्रेम जारप्रेम कैसे ? द्वारिका

की रानियों में ज्ञान न रहने पर भी जारप्रेम नहीं माना जा सकता। वे विधिवत विवाहित थी। समाधानः—यहां जाराणामिव यह गोपियों को लेकर ही प्रसंगतः कहा ॥४३ ४४॥

एवमेव च धन्नादिभक्तेरपि निरूपणम् ।
श्रद्धास्नेहादिरूपा हि वृत्तिस्तत्र सतां मता ॥४५॥
कामश्रद्धादिवृत्त्यापि माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ।
प्रेम संपद्यते तस्माच्चाश्च निन्द्या न वृत्तयः ॥४६॥

ॐ

धन्ना लीलावती आदि की भक्ति का भी यही रहस्य है। उनमें श्रद्धा स्नेहादि वृत्ति थी। उससे भी अन्ततः प्रेम होता है। अतः वे भी वृत्तियां निन्द्य नहीं है ॥४५-४६॥

ॐ

अथात्र विषये कृष्णे वृत्तिः कामात्मिका कुतः ।
तस्याश्च प्रेमरूपत्वस्वीकारे का तव क्षतिः ॥१॥
वैलक्षण्यं प्रेमवृत्तौ कामवृत्तौ च किं खलु ।
विषयस्यैव भेदोऽस्ति सदृशोः प्रेमकामयोः ॥२॥
नाममात्रेण भेदोऽयमकिंचित्कर एव नः ।
इत्याशङ्कां निराकर्त्तुमिदमाह महामुनिः ॥३॥

आत्मा विषय हो तो प्रेम और शरीर विषय हो तो काम यह भेद जचता है। प्रेम और काम में विषय ही विलक्षण होता है, वृत्ति समान होती है। अतः कृष्ण में काम कहना ही असंगत है। नाम मात्र का भेद अकिंचित्कर है इस पर कहते हैं:—

❀ नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् ॥२४॥ ❀

जार प्रेम में स्वार्थ रहता है, प्रिय के सुख में अपना सुख नहीं।

स्वयंफलात्मकं प्रेम स्वयमग्रे प्रवक्ष्यति ।
ततश्च पुरुषार्थत्वं प्रेम्णो निगद्भाषितम् ॥४॥
जारप्रेमोत वा कामो नैतादृगुपलभ्यते ।
स्वयंफलात्मता तत्र न केनाप्यनुभूयते ॥५॥
परमः पुरुषार्थः स यत्राकाङ्क्षापरिक्षयः ।
यत्र स्वार्थसमाप्तिश्च यत्र चोपशमः परः ॥६॥

प्रेम स्वयं फल रूप आगे बतायेंगे। फलतः वह परमपुरुषार्थ है। क्योंकि वहां आकांक्षा समाप्त होती है स्वार्थ पूर्ण होता है परम उपशान्ति होती है। जारप्रेम या काम में यह बात नहीं है।४ ६॥

जायतेऽसिद्धविषयः कामो निजसुखाप्तये ।
कथं स पुरुषार्थः स्यादन्यशेषः पराश्रितः ॥७॥
सुखं भगवतः प्राप्तुं दर्शनस्पर्शनादिभिः ।
प्रजायमानः कामोऽयं न स्वयंफललक्षणः ॥८॥
कामोपशममेवाहुः प्रेमारम्भं मनीषिणः ।
कथं तयोर्भवेदैक्यं रजनीदिवसाभयोः ॥९॥
प्राप्यं नापेक्षते प्रेम प्राप्यरूपं हि तद्यतः ।
स्वसुखावाप्तये नैतत् परं परसुखाप्तये ॥१०॥

काम असिद्धविषयक होता है, निजसुखार्थ होता है, अतएव पराश्रित एवं अन्यशेष वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। दर्शनस्पर्शनादि से भगवान से सुख पाने के लिये उत्पन्न काम स्वयं फलस्वरूप नहीं हो सकता। बल्कि काम की समाप्ति ही प्रेम का प्रारम्भ है। जैसे रात्रि की समाप्ति दिवसारम्भ है। प्रेम किसी प्राप्य की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह स्वयं प्राप्यरूप है। वह स्वसुख के लिये नहीं,

किन्तु परसुख के लिये होता है ॥७·१०॥

न तत्सुखसुखित्वं हि जारप्रेमणि विद्यते ।
तदर्पिताखिलाचारभावो नातोऽस्ति कामिषु ॥११॥
स्वार्थार्पिताखिलाचाराः पारम्पर्येण देहिनः ।
तदर्पिताखिलाचारो निष्कामः कोऽपि राजते ॥१२॥
न स्वर्गं नापवर्गं च वाञ्छन्ति हरिसेवकाः ।
न च ते निरयादिभ्यः कुतश्चिदपि बिभ्यति ॥१३॥
मीमांसकानामिव तत् पुमर्थं न सुखं सताम् ।
नैयायिकानामिव च भजतां दुःखनिर्हृतिः ॥१४॥

तत्सुखसुखित्व न होने पर तदर्पिताखिलाचारता असम्भव है, तब प्रेम कैसा । प्रायः सभी स्वार्थार्पिताखिलाचार होते हैं । प्रेमी तो निष्काम होता है । न तो उसे सुख की चाह होती और न दुःख से भय । अतएव मीमांसकों के समान सुख प्राप्ति या नैयायिकों के समान दुःख निवृत्ति सन्त भक्तों का पुरुषार्थ–ध्येय नहीं है ॥११-१४॥

* यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः * ॥१५॥
* नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा मयि * ॥१६॥
* नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः * ॥१७॥
अनन्तकालपर्यन्तं व्रजेम नरकं वयम् ।
न दुःखं क्षणमप्यस्य भगवन् विषहेमहि ॥१८॥

इत्यादिवचनेष्वेतत्सर्वमेवोपलभ्यते ।
तस्मात्प्रेम च कामश्च पृथगेवेति निश्चितम् ॥१९॥

उक्तार्थ को यस्मान्नोद्विजते इत्यादि गीता श्लोकादि में देखिये। भक्त कहता है मैं अनन्तकाल तक बदले मैं नरक में रहूँ किन्तु मेरे प्रिय को—भगवान को एक क्षणभर भी दुःख न हो ॥१५-१९॥

केचित्तु क्षणमूर्ध्वं च क्षणं नीचैश्च यो भवेत् ।
नायं प्रेमा स हि प्रेमा यः सदैकरसो भवेत् ॥२०॥
ऊर्ध्वाधःपरिणामी तु जारप्रेमेति तं मुनिः ।
अत्रापाकुरुते प्रेमलक्षणेष्विति संजगुः ॥२१॥
तच्चिन्त्यं प्रकृते गोपीप्रेम्ण एव निदर्शनात् ।
न चोक्तरूपं तत्प्रेम जारबुद्ध्याप्युदाश्रितम् ॥२२॥

अन्य व्याख्याः—जो ऊपर नीचे होता रहता है वह असली नहीं, जारप्रेम है उसकी व्यावृत्ति यहां नारदजी करते हैं। यह व्याख्या चिन्त्य है। यहां गोपियों के ही जारप्रेम का उल्लेख है। उसमें ऊँचा नीचा होने का उदाहरण नहीं मिलता ॥२०-२२॥

इदं तु चिन्त्यते किंचिज्जारीयत्वविचारणे ।
प्रेमा माहात्म्यविज्ञानपरतन्त्रो भवेदयम् ॥२३॥
न च वाच्यं ज्ञानमेतज्जारीयत्वनिवर्त्तकम् ।
प्रेमा स्वतन्त्र एवायं न ज्ञानं समपेक्षते ॥२४॥
यतो ज्ञानं न चेदस्ति काम एवोपजायते ।
न प्रेमेति पराधीनः प्रेमायं नैव संशयः ॥२५॥
शुद्धां च हि हरेर्भक्तिं व्याख्यातुं नारदो मुनिः ।

व्यधादिमानि सूत्राणि शाण्डिल्यानुक्तलक्षणाम् ॥२६॥
ज्ञानमिश्रां यदि ब्रूते देवर्षिर्नारदोऽपि चेत् ।
शुद्धाभक्तिरियं नाम हता हन्त मनस्विनी ॥२७॥

पूर्वपक्षः—जारीयत्व विचार से यह बात आ जाती है कि प्रेम माहात्म्यज्ञानपरतन्त्र है। यह कहें कि ज्ञान जारीयत्वनिवर्त्तक मात्र है प्रेमप्रवर्त्तक नहीं, तो भी ठीक नहीं। कारण, ज्ञान न हो तो काम ही होगा प्रेम होगा ही नहीं। अतः प्रेमप्रवर्त्तक भी मानना होगा। तब देवर्षि भी ज्ञानमिश्रा भक्ति पर उतर आये तो वह मनस्विनी शुद्धा भक्ति तो मारी ही जाएगी ॥२३-२७॥

अत्रोच्यते न विज्ञानपरतन्त्रं निरूप्यते ।
प्रेमेह किन्तु तात्पर्यमन्यदेव महामुनेः ॥२८॥
महात्म्यज्ञानशब्देन स्वात्मान्यत्वमतिं त्विह ।
निराचिकीर्षते भक्तेर्न तु ज्ञानं विधित्सते ॥२९॥
अन्यत्वबुद्धिराहित्ये स्वप्रभत्वात् सदात्मनः ।
माहात्म्यं भासते तस्मान्माहात्म्यज्ञानमब्रवीत् ॥३०॥
अन्यत्वमतिशून्यत्वेऽप्यन्यवद् भाति लीलया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥३१॥
इत्याशयेन देवर्षिर्माहात्म्यज्ञानविस्मृतिम् ।
प्रागाह सा च भगवन्माया प्रेममयी स्मृतेः ॥३२॥
तद्विहीनमितीदं तु स्वान्यत्वज्ञानतत्परम् ।
भेदबुद्धौ भवेत् स्वार्थो जारप्रेमैव तत्र च ॥३३॥

उत्तरः—माहात्म्यज्ञान से भेदमति निरास विवक्षित है। अपने से भिन्न भगवान को समझना ही अज्ञान है। उसके अभाव में स्वयं

प्रकाश होने से माहात्म्य स्वयं स्फुरित होता है अतः माहात्म्यज्ञान कहा। फिर भी प्रेममयी माया से अन्य सा भासित होता है। अतएव विस्मृति भी कहा। यही 'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं' ऐसा अन्यत्र बताया है। अत्यन्त भेद होने पर स्वार्थ होगा। उसी को जाराणां से बताया ॥२८-३३॥

[अत एवाग्रिमे सूत्रे प्रेमाणं ज्ञानतोऽधिकम्।
वक्ष्यते ज्ञानजन्यत्वे का नामाधिकता भवेत् ॥
साधनादधिकं श्रेष्ठं साध्यवस्त्वित कश्चन।
न ब्रूते नैव सहसा साध्ये कश्चित्प्रवर्त्तते ॥]
ज्ञानकर्मादितो यत्र भगवत्करुणोदयः।
ततो भक्तिस्तत्र बोधपारतन्त्र्यं न मन्महे ॥३४॥
अन्यत्वमतिराहित्यपारतन्त्र्यं न शङ्क्यताम्।
अभावपारतन्त्र्यं न तान्त्रिकैरुररीकृतम् ॥३५॥

ज्ञानकर्मादि से भगवत्करुणा और उससे भक्ति हो तो यह ज्ञान परतन्त्रता या ज्ञानमिश्रता नहीं है। भेदबुद्ध्यभाव का पारतन्त्र्य भी नहीं है। कारण अभाव परतन्त्रताप्रयोजक नहीं माना जाता।३५।

अथवाविर्भविष्यन्त्या लक्षणान्यब्रवीन्मुनिः।
वृष्टेर्यथा भविष्यन्त्या ऊष्मवत्त्वादि लक्षणम् ॥३६॥
स्वरूपबोधकं भक्तेरुक्तं प्रेम्णश्च वक्ष्यते।
अत्रोच्यन्ते भाविभक्तेश्चिह्नानीति समञ्जसम् ॥३७॥
प्राप्ते परप्रेमणि च न ज्ञानं न च वृत्तयः।
अनिर्देश्यरसाम्भोधिमात्रपर्यवसायिनी ॥३८॥
तच्च त्रिसूत्र्यां प्रथमं दर्शितं हि महर्षिणा।

तेन न ज्ञानमिश्रत्वशङ्काप्यत्र प्रवर्त्तते ॥३९॥

अथवा ये सभी लक्षण भाविभक्ति के हैं। जातभक्ति का लक्षण पहले कह चुके, और प्रेम का कहेंगे। प्रेम प्राप्त होने पर न ज्ञान रहता है और न वृत्तियाँ, वहां तो अनिर्देश्यरससागरमात्र है। यह त्रिसूत्री में कह चुके। वहां ज्ञानमिश्रता की शंका ही उठती नहीं है।

किं च साधनकालेऽपि नान्योक्ता ज्ञानमिश्रता।
सा विस्मृत्यसमानाधिकरणज्ञानमिश्रता ॥४०॥

और साधनकाल में भी शाण्डिल्याद्युक्तज्ञानमिश्रता नहीं है। विस्मृत्यसमानाधिकरण ज्ञानमिश्रता ही उनके मत में ज्ञानमिश्रता है ॥४०॥

स्वरूपावेदकैरेव चारितार्थ्यात् स्वलक्षणैः।
नन्वेतानि किमर्थानि लक्षणानीति चेच्छृणु ॥४१॥
मा भूत् साधनशैथिल्यं भक्तिः प्राप्तेति विभ्रमात्।
कियद्गता वयं चेति ज्ञातुं शक्येत लक्षणैः ॥४२॥
किं च निर्दिश्यमानानि ह्यनिर्देश्यावबुद्धये।
दिव्या च विस्मृतिर्दिव्यं व्याकुलत्वं च तत्र यत् ॥४३॥

ॐ

स्वरूप प्रतिपादक लक्षणों से गतार्थ होने से इन लक्षणों की आवश्यकता क्या ? इसका उत्तर है कि भक्ति मिल गयी इस प्रकार मिले बिना ही भ्रम होने पर साधना में शिथिलता हो सकती है, हम कहां तक पहुंचे हैं यह भी लक्षण से ज्ञात होता है। तथा निर्दिश्यमान व्याकुलता और विस्मृति से अनिर्देश्य को लक्षित करने के लिये भी लक्षण है ॥४१-४३॥

इति भक्तेर्नानालक्षणनिरूपणं पञ्चमम्

ॐ

ननु वेदेषु कर्माणि ज्ञानयोगादयस्तथा ।
पुमर्थसाधनतया व्याख्यातान्यतिविस्तरात् ॥१॥

पूर्वपक्षः—वेदों में कर्म, ज्ञान, योगादि पुरुषार्थ के रूप में विस्तार से वर्णन किया है ॥१॥

सेक-पुंसव-सीमन्त-जात-नामा-ऽशनानि च ।
चैलो-पनयने वेदव्रतानि स्नानमेव च ॥२॥
ब्रह्मचर्यान्तकर्माणि गृहे प्रविशतां पुनः ।
विवाहः पञ्चयज्ञाश्च तथा संस्थात्रिसप्तकम् ॥३॥
अष्टकाः पार्वणश्राद्धं श्रावणी चाग्रहायणी ।
चैत्री चाश्वयुजी पाकयज्ञसंस्था हि सप्त ताः ॥४॥
अग्न्यानेयं चाग्निहोत्रं दर्शपूर्णौ तथैव च ।
तथैवाग्रयणं चातुर्मास्यं च पशुबन्धनम् ॥५॥
सौत्रामणी चेति हविर्यज्ञसंस्थाश्च सप्तताः ।
अग्निष्टोमस्तथात्यग्निष्टोम उक्थ्यश्च षोडशी ॥६॥
वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्त्याप्तोर्यामस्तथैव च ।
ताः सोमयज्ञसंस्थाः स्युः कर्माण्येतानि संजगुः ॥७॥
पञ्चाग्नितापप्रभृतिर्विशेषो वनगामिनाम् ।
तथा ब्रह्मजपादीनि कर्माणि न्यासिनां विदुः ॥८॥

चारों आश्रमों के कर्मों का सेक-पुंसवन इत्यादि से संक्षिप्त विवरण है। विस्तृत विवरण अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥२-८॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि शतवर्षं जिजीविषेत् ।
ततो भवति नैष्कर्म्यमिति च श्रुतिषु श्रुतम् ॥६॥

शतवर्ष कर्म ही करते हुए जियें उससे नैष्कर्म्य मोक्ष होता है। ऐसा श्रुतियों में बताया है ॥६॥

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानं द्विविधमिष्यते ।
वाक्यैरवान्तरैराद्यं महावाक्यैस्तथेतरत् ॥१०॥
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
इत्यादि वचनैर्ज्ञानं परोक्षं प्राप्यमुच्यते ॥११॥
ईशावास्य मदं सर्वमात्मा द्रष्टव्य इत्यपि ।
स विजिज्ञासितव्यश्चेत्यपरोक्षमुदीर्यते ॥१२॥

ज्ञान दो प्रकार का है। अवान्तरवाक्य से परोक्ष और महावाक्य से अपरोक्ष। दोनों प्राप्य है, यह शास्त्रों में बताया है ॥१२॥

योगेऽष्टाङ्गेऽन्तरङ्गाणि यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारश्चेमानि पञ्च हि ॥१३॥
तथैव धारणा ध्यानं समाधिश्चान्तरङ्गकम् ।
निर्बीजाख्यसमाधिः स्यादन्तरङ्गतमं फलम् ॥१४॥

यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग धारणा ध्यान समाधि अन्तरंग फल योग है ॥१३-१४॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं निवेश्य हृदि खानि च ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत् स्रोतांसि भयदानि हि ॥१५॥
मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥१६॥

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१७॥
इत्यादिभिश्चवचनैः साङ्ख्योगस्य वैदिकैः ।
समनुष्ठेयता प्रोक्ता निःश्रेयसफला नृणाम् ॥१८॥

श्वेताश्वतरादि में कहा है—योगाभ्यास करते समय शरीर, सिर और गले को सीधे रखें, इन्द्रियों को हृदय में प्रवेशित करें, श्वास को और आसन को जीत कर अभ्यास तथा वैराग्य से मन को एक जगह लगावें। यदि फिर भी मन स्थिर न होता हो तो अनुरोध मार्ग से स्थिर करें। यहाँ योग की कर्त्तव्यता बतायी है ॥१५-१८॥

न च ते नृभिरग्राह्या वेदानर्थकता तदा ।
भवेत्तेन च वेदानामप्रामाण्यं प्रसज्यते ॥१६॥
सफलत्वं च वेदोक्तं न निवारयितुं क्षमम् ।
सफलत्वे च तत्त्याग कारणं नैव वीक्ष्यते ॥२०॥

कर्मादि सर्वथा अग्राह्य हो तो वेदों की अनर्थकता और अप्रामाणिकता होगी। कर्मादि सफल होने से उन्हें छोड़ने का कोई हेतु भी नहीं है ॥१६-२०॥

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥

भक्ति कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

नैवं व्याख्येयता भक्तेः सकलाधिकता यतः ।
भगवानपि गीतायामिदमर्जुनमब्रवीद् ॥२१॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥२२॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥२३॥

समाधानः—सब से उत्तम भक्ति है अतः यह ग्राह्य है। यही तपस्विभ्योऽधिकः” इत्यादि गीता में भी बताया गया ॥२१–२३॥

भक्तिहीनस्य कर्मादेः श्रीमद्भागवतादिषु ।
अनेकदोषयुक्तत्वं तत्र तत्र प्रदर्शितम् ॥२४॥
श्रुतं च दृष्टवद् दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तराय कामत्वात् कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥२५॥
इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥२६॥
तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् काल चालितः ॥२७॥

श्रीमद्भागवतादि में भक्तिशून्य कर्मादि के अनेक दोष बताये हैं जैसेः—स्वर्ग में भी ईर्ष्या असूयादि से क्लेश होते हैं। पुण्य क्षीण होने पर पुनः पतन होता है ॥ २४–२७ ॥

ज्ञानिनोऽनादृत भवत्पादा आरुह्य तत्पदम् ।
पतन्त्यधो भवत्पाद भाव वर्जित चेतसः ॥२८॥
यैर्बोधलब्धये भक्तिं त्यक्त्वा यत्नो विधीयते ।
तुषावघातिवत्तेषां क्लेशलः केवलो भवेत् ॥२९॥

ज्ञानी भी भक्ति न होने से ऊपर चढ़कर भी नीचे गिरते हैं उनका प्रयास भूसी जैसा कूटने के बराबर है ॥२८–२९॥

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।

योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३०॥
समाधावुपसर्गास्ता व्युत्थाने सिद्धयो हियाः ।
सङ्गस्मयादितस्तत्र बहुनिष्टं प्रसज्यते ॥३१॥
सिद्धयासक्तिप्रसङ्गेन योगाभ्यासो न शोभनः ।
समाधिसिद्धिर्यतिनामीश्वर प्रणिधानतः ॥३२॥
असिद्धयोगः पुण्यानां लोकान् संप्राप्य भोगिनाम् ।
पुनर्निवर्त्ततेऽत्रैव शुचीनां श्रीमतां गृहे ॥३३॥

योगी सिद्धियों में पड़कर श्रेय से वंचित हो जाते हैं। सिद्ध न होने पर पुण्यलोकों में जाकर फिर श्रीमन्तों के घरों में वापिसाकर जन्म लेते हैं ॥३०–३३॥

तथा च योग प्रभृतेः श्रेयस्त्वं न प्रमिण्महे ।
भक्तेस्तेभ्योऽधिकत्वं हि तत्र तत्र वचः शतैः ॥३४॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥३५॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार सागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्या वेशित चेतसाम् ॥३६॥
न भ्रश्यन्ति त्वयि प्राप्तसौ हृदा स्तावकाः क्वचित् ।
प्रभो विनायकानीप मूर्धस्वपि चरन्ति ते ॥३७॥
याना स्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३८॥

इसके विपरीत भक्ति की श्रेष्ठता है:-जो मेरा भक्त है उसका उद्धार स्वयं मैं करता हूँ। मेरा भक्त कभी गिरता नहीं, भले ही विघ्नों के

मूर्धा में ही चले। हे राजन् भक्त आँख मीचकर दौड़े तो भी वह कहीं न फिसलता और न गिरता है ॥३४-३८॥

न चैवं विधिवैयर्थ्यं कर्मादीनां प्रसज्यते।
तत्तत्प्रयोजनपरे तत्सार्थक्योपपात्तितः ॥३९॥

इतने से कर्मादिविधिवैयर्थ्य भी नहीं होता। तत्तत्प्रयोजन सिद्धि के लिये कर्मादि उपयुक्त हैं ॥३९॥

ॐ

ननु कर्मभिरप्युक्ता संसिद्धिर्हरिणा परा।
कर्मणैव हि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः ॥ १ ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम् ॥ २ ॥
कर्माण्यारभ्य भावांश्च सर्वान् यो विनियोजयेत्।
तदभावे कर्मनाश स्तत्त्वतोऽन्यस्ततो भवेत् ॥ ३ ॥
किं च भक्त्वा यथा तुष्येत् कर्मतोऽपि तथा हरिः।
हरितोषश्च परमं श्रेयःकारण मुच्यते ॥ ४ ॥

पूर्वपक्षः—कर्म से भी संसिद्धि गीता में और उपनिषदों में बतलायी है। निष्काम कर्म से हरितोष प्रसिद्ध ही है ॥४॥

समानफलकत्वाच्च भक्तेर्नाधिक्य संभवः।
एवं ज्ञानेऽपि बहुधा संदृश्येते श्रुतिस्मृती ॥ ५ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ ६ ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ७ ॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति ॥ ८ ॥
तमेव पुरुषं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति मानवः ।
तं पश्यन् परमं याति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ ९ ॥

यदि फल में भेद न हो तो भक्ति में भी श्रेष्ठता सिद्ध न होगी ? ज्ञान की भी महिमा श्रुति स्मृतियों में गायी है:—ज्ञानरूपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्म करती है। ज्ञान के समान अन्य कोई पवित्र नहीं। ज्ञान से परमशान्ति, तुरन्त प्राप्त होती है। ज्ञान से ही मुक्ति है अन्य कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं ॥५९॥

मुक्तकण्ठं च योगस्य माहात्म्यं परिगीयते ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः ॥१०॥
शुचिः सुखासनस्थश्च समग्रीवशिरस्तनुः ।
ध्यात्वा प्रयाति तमसः परस्तात्सर्व साक्षिणम् ॥११॥

योग की महिमा स्पष्ट है ॥१०-११॥

सकामकर्मणामेव परोक्षज्ञानिनामपि ।
अयतेन्द्रिययोगानामप्येव पतनं मतम् ॥१२॥

पतन तो सकाम कर्मी, परोक्षज्ञानी और असंयतेन्द्रिय योगी का ही बताया है सबका नहीं ॥१२॥

किं च कर्मादिभिःसर्वैर्मिलित्वारभ्यते फलम् ।
ततोऽधिकतरत्वं हि नैव कुत्रापि संभवि ॥१३॥
* अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसंभृतया चिरम् ॥१४॥

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥१५॥
प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमानात्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥१६॥
भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥१७॥
असेवया गुणानां च ज्ञानेन च विरागतः ।
योगेन मयि भक्त्या चावरुन्धे मां सदाश्रयाः ॥१८॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्य कुतो भयम् ॥१९॥
इत्येवं कपिलादिश्च तुल्यकक्षितयाऽभ्यधात् ।
धर्मभक्तितयोर्योग ज्ञानादीन् साधनात्मना ॥२०॥
भक्तिर्विरक्तिर्बोधश्च भजतो भगवत्पदम् ।
भवन्ति राजन् परमां ततः शान्तिमुपैत्यसौ ॥२१॥
इति योगेश्वरोऽप्याह भजता त्रयसंपदम् ।
तत एव पराशान्तिस्तस्याप्यभिमतेत्यते ॥२२॥

वस्तुतः सभी कर्मादि मिलकर श्रेय का कारण होते हैं यह कपिलादिवचन से स्पष्ट है। योगेश्वर भी भक्ति विरक्ति और प्रबोधन इन तीनों से परमशान्ति मानते हैं।

फलरूपत्वात् ॥२६॥

क्योंकि वह फलरूपिणी है।

सत्यं कर्मादिभिरपि साधनैरुपदर्शितैः ।

श्रेयः परमवाप्नोति सावधानमनाः पुमान् ॥२३॥
भक्तिः साधनकालेऽपि फलरूपैववर्तते ।
इदमेव च वैशेष्यमपरेभ्यः परं स्थितम् ॥२४॥

उत्तर यह है कि सावधान रहने पर कर्मादि से भी अवश्य श्रेय हो सकता है। किन्तु भक्ति साधन काल में भी फलरूपिणी है यह इसमें खास विशेषता मानी गयी है।

क्लेशावहानि कर्माणि नरायद्यपि कुर्वते ।
तथापि तेभ्यो विश्रान्ति नित्यमिच्छन्तिपण्डिताः॥२५॥
तस्मान्न पुरुपार्थत्वं कर्मणां साधनात्मनाम् ।
नैष्कर्म्यसिद्धये तस्माद् यतन्ते कर्मिणोऽपि च ॥२६॥
अतिक्लेशेन च ज्ञानं विवेकादियुजो भवेत् ।
तथा च साधनावस्थास्थितं कर्मसमं हितत् ॥२७॥
प्राणायामायतत्पूर्वं यमो नियम आसनम् ।
दुःसंपादं विदन्त्येव प्राणायामपरायणाः ॥२८॥
प्राणायामादयश्च यथा कष्टतरास्तथा ।
जानन्ति यतयः सर्वे योगमार्गावलम्बिनः ॥२९॥
भक्तिस्तु साधनावस्थास्थितापि फलरूपिणी
रसमात्रस्वरूपत्वात्ततोऽधिकतरां जगौ ॥३०॥

कर्म से विश्रान्ति सब चाहते हैं। विवेकादि से ज्ञान बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। यम नियमादि सभी अत्यन्त क्लेशकारी होते हैं। अतः साधन काल में सभी क्लेशप्रद सिद्ध होते हैं। भक्ति तो साधन काल में रसस्वरूपिणी है। यही भक्ति में विशेषता है।

वस्तुतो नैव कर्माद्यैः साक्षान्निः श्रेयसोदयः ।
किन्तु भक्तिमुखेनैव तस्माद् भक्तिर्हि तत्फलम् ॥३१॥
* न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता * ॥३२॥
* भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्माप्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनातिमन्निष्ठाश्वपाकानपि संभवात् * ॥३३॥
* दानव्रततपोहोम — जपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिरितरैश्चापि मयि भक्तिर्हिसाध्यते * ॥३४॥
इत्यादिभिर्द्विधावाक्यैरेषोऽर्थ उपलभ्यते ।
स्पष्टयत्यपरत्रापि भक्तेः सर्वफलात्मताम् ॥३५॥

वस्तुतः कर्मादि से श्रेय साक्षात्होता ही नहीं है, वह भक्ति के द्वारा ही सुलभहोता है अतः कर्मादि का प्रथम फल भक्ति ही है। उसे योग सांख्यादि प्राप्त नहीं करा सकते जिस प्रकार भक्ति कराती है। सभी सत्कर्मों से भक्ति ही प्राप्त की जाती है इस द्विधावचन से भक्ति के द्वारा कर्मादि श्रेयःकारण सिद्ध होता है। (अतः कर्मणैव हि संसिद्धि इत्यादि वचन उपचयक होते हैं) अन्य वचन भी इस प्रकार हैं—

* नह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह ।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगोयतो भवेत् ॥३६॥
भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्यमनीषया ।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत् ॥३७॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसांनिः श्रेयसोदयः ।
तीव्रेणभक्तियोगेन मनोमय्यार्पितं स्थिरम् * ॥३८॥

इन श्लोकों में समस्त सन्मार्ग का फल भक्ति ही सिद्ध करती है।

ननु नैवास्तिकर्मादेर्भक्तिरेव परं फलम्।
स्वर्गनिःश्रेयसादीनां तत्र तत्र फलश्रुतेः ॥३६॥
स्वर्गकामो यजेतात्र न भक्तिर्मध्यगामिनी।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येतीत्यादावपि तथा स्थितिः ॥४०॥
इत्थं विषयभेदेन भक्तेरधिकरूपता।
कथं स्यादिति चेन्यैवं सा सर्वफलदा यतः ॥४१॥
❀ यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥४२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ❀ ॥४३॥
इत्युक्तेः सर्वफलदा सैव सर्वफलात्मिका।
तथा च सर्वाधिकता नितरामुपपद्यते ॥४४॥

पूर्वपक्षः—कर्मादि का स्वर्गादि भी फल है। अतः विषय भेद होने से श्रेष्ठ कनिष्ठ विभाग कैसा? इसका समाधान यह है कि 'यत्कर्मभिः' इत्यादिवचन प्रमाण से भक्ति सर्वफलदायिनी है अर्थात् सर्वफलात्मक ही है। अतः विषयैक्य होने से भक्ति ही श्रेष्ठ है।

साधनं ननु कर्मादि भक्तिः साध्यात्मिका फलम्।
तत्र न्यूनाधिकत्वस्य कथं चिन्ता प्रवर्त्तताम् ॥४५॥
मैवं नैकान्तिको हेतुः कर्मादिरुपगम्यते।
तृणा रणिमणि न्यायात्किं च भक्तिर्हि साधनम् ॥४६॥
तत्तन्मार्गप्रवृत्तानामवधिः परमं फलम्।

भक्तिरेवेति निर्ब्रूमो न त्वैकान्तिकहेतुताम् ॥४७॥
*तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धापावन्न जायते ॥४८॥
यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥४९॥
धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥५०॥
सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनोयावत्प्रसीदति * ॥५१॥
इत्यादौ कर्मविज्ञानयोगानां परमं फलम् ।
मनः प्रसादशब्दोक्तभक्तिरेवावधिः स्फुटः ॥५२॥
निर्विण्णो यदिकर्मभ्यो भक्तिं योगादवाप्नुयात् ।
नो चेच्छ्राद्धान्तमेषोऽतोविकल्पश्चोपपद्यते ॥५३॥
*ज्ञानिनस्त्वमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदते प्रियः ॥५४॥
ज्ञानविज्ञानसंपन्नः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौविभर्त्तिमाम् * ॥५५॥
इत्यादौ सिद्धवत्कृत्य ज्ञानिनो भक्तिनिष्ठताम् ।
वदन् ज्ञानावधिर्भक्तिरित्यत्रासूचयत्प्रभुः ॥५६॥

पूर्वपक्षः—यदि कर्मादि साधन और भक्ति फल है तो यहां न्यून अधिक विचार ही कैसा ? बीज से श्रेष्ठ वृक्ष है ऐसा कोई नहीं

कहता। उत्तर यह कि कर्मादि भक्ति के साधन नहीं है किन्तु यदि कर्मादि करते हैं तो उससे भी भक्ति ही संपादन करने की कोशिश करो कर्मादि की भी अवधि भक्ति ही है यह भागवतादि प्रमाण से सिद्ध है।

नैष्कर्म्यमपि विज्ञानं भगवद्भाववर्जितम्।
निरञ्जनं च नैवालं शोभते कर्म किं पुनः ॥५७॥
योगस्तु रोग एवायं ज्ञानमज्ञानमेव तत्।
प्रधानविधया नैव हरि भक्तिरसो ययोः ॥५८॥
रसालो नीरसो व्यर्थ इक्षुदण्डश्च नीरसः।
नीरसं वचनं व्यर्थं ज्ञानं कर्म च नीरसम् ॥५९॥
संयमो नियमः पुष्पोपमो ज्ञानं फलोपमम्।
तत्रापि च रसो नाम हरिभक्तिर्न संशयः ॥६०॥
इत्येवं विबुधाहेतु हेतुयद्भावमन्तरा।
सामानाधिकरण्येन भक्तेः प्राधान्यमब्रुवन् ॥६१॥

भक्ति न हो तो ज्ञान शोभा ही नहीं पाता, तो कर्म की बात क्या है योग रोग है ज्ञान अज्ञान है यदि भक्ति न हो, संयम नियम फूल ज्ञान फल और भक्ति उस में रस है, रस विना सब व्यर्थ है इस ढंग से विद्वानों ने कार्यकारण भाव के विना ही भक्ति की प्रधानता वतलायी गयी है।

वेदकल्पतरोरेतत् फलं रसकलेवरम्।
भगवत्प्रेम मुनिभिस्तच्च भागवतं स्मृतम् ॥६२॥
इत्युक्तं फलरूपत्वं योगविज्ञानकर्मणाम्।
भक्तिपर्यवसायित्वे सफलत्व परं स्फुटम् ॥६३॥

निगमकल्पतरोः इस श्लोक में कर्मादि का भक्ति पर्यवसान में ही तात्पर्य है।

वस्तुतः कर्मविज्ञानयोगा न फलरूपिणः।
विनश्यन्ति फलं दत्वा त्यज्यन्ते वाप्त तत्फलैः ॥६४॥
निवर्त्त्य मलविक्षेपावरणानि यथा यथम्।
निवर्त्तन्ते कर्मयोग ज्ञानानि चरितार्थतः ॥६५॥
स्वस्थास्त्यजन्ति भैषज्यं कर्म च स्वस्थचेतसः।
ज्ञानमात्मस्थिता योगं स्वस्वरूपप्रतिष्ठिताः ॥६६॥
तथा चैते विनाशित्वादफलात्मत्वतोऽपि च।
न लभन्ते परोत्कर्षमनुत्कृष्टफला दपि ॥६७॥
उत्कृष्टफलरूपेयमविनाशि स्वरुपिणी।
अप्येषा साधनात्मा स्यात्किं पुनः प्रेमलक्षणा ॥६८॥
इदं तपः श्रुतस्विष्ट सूक्तानां बुद्धिदत्तयोः।
परोऽर्थ उत्तमश्लोक गुणानुकथनं हि यत् ॥६९॥
अत्र साधनरूपस्य गुणानुकथनस्य हि।
उत्कृष्ट फलरूपत्वं विस्पष्टं समुदीरितम् ॥७०॥
न चात्र पूर्वतन्त्रोक्तं गोभिः श्रीणीत मत्सरम्।
क्षीरं गो प्रभवं भाक्तं तथा स्यादिति सां प्रतम् ॥७१॥
मुख्यार्थ संभवे क्वापि गौणार्थ स्यापदिग्रहात्।
व्युत्पादिता च नामादेर्ग्रहणस्य रसात्मता ॥७२॥
न वै जनोऽन्यवदिमां संसृतिं पुनरा व्रजेत्।

मुकुन्दसेवी न पदं त्यजे द्यस्माद्रसग्रहः ॥७३॥
सकृन्मनः कृष्णपदे तद्रक्तं यैर्निवेशितम् ।
स्वप्नेऽपि ते न पश्यन्ति यमादी श्चीर्ण निष्कृताः ॥७४॥
सालोक्य सार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्व मप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥७५॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघोघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पलंकातनुम् ॥७६॥
भुक्ति मुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ।
तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥७७॥
इत्येवं रसरूपत्वं तत्र तत्र निरूपितम् ।
निन्दनादपि भुक्त्यादेररसत्वं हि सूचितम् ॥७८॥
साधनत्वं च नामादेः प्रतिबद्ध रसत्वतः ।
न पुनर्नीरसत्वाद्वा नाशित्वाद्वा निगधते ॥७९॥
मुक्तावपि न नाशोऽस्यास्तथा चाचार्य भाषितम् ।
लीलया विग्रहं कृत्वा मुक्तावपि भजन्ति तम् ॥८०॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीताऽचक्षुरीक्षते ।
शृणोत्यकर्णोऽपि हरिं भक्तो मुक्तावपि स्वयम् ॥८१॥

वस्तुतः मल दूर होने पर कर्म, विक्षेप दूर होने पर योग, आवरण दूर होने पर ज्ञान नष्ट होते हैं या छोड़ दिये जाते हैं। अतः ये विनाशी भी हैं और फलरूप भी नहीं है। परंतु भक्ति अविनाशी तथा उत्कृष्ट फलरूपिणी है। "इदं हि पुंसः" श्लोक में भगवद्गुणगानरूपी साधन भक्ति को भी उत्कृष्ट फल स्वरूप बताया है। "गोभिः

श्रीणीत" में मीमांसक गो शब्द का गो जन्य दूध अर्थ करते हैं। किन्तु यहाँ पर मुख्य अर्थ हो सकता है अतः गुणानुकथन को वैसी लक्षणा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। "नवैजनः" इत्यादि अन्य अनेक वचन प्रमाण से साधनभक्ति भी रसरूपिणी है रस प्रगट न होने से साधन कह दिया जाता है। वस्तुतः मुक्ति में भी गुणानुकथनादि रहता है। अतः अविनाशी और फलरूप ही वह है।

केचित्त्वत्र परोक्षं हि कर्मयोगद्विमध्यगम्।
गृह्यतं ज्ञानमित्याहु स्तन्मतं न समञ्जसम् ॥८२॥
अपरोक्षज्ञानतस्तदधिकत्वं न सिद्ध्यति।
सर्वेभ्योऽप्यधिकत्वं तु भक्त्या भक्तेः प्रचक्षते ॥८३॥

ॐ

सूत्र में कर्म और योग के बीच में परोक्ष ज्ञान ही विवक्षित है ऐसा अर्थ भक्ति शास्त्र के विरुद्ध है। क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान से भी भक्ति श्रेष्ठ मानी गयी है।

ॐ

नन्वस्तु फलरूपत्वं भक्तेरानन्त्यमेव च।
तथापि साधना काले फलवन्न प्रतीयते ॥१॥
नामसंकीर्त्तने लोको निद्राद्यै रभिभूयते।
शृण्वन्तोऽपि स्मरन्तोऽपि बहवोयान्ति नोरतिम् ॥२॥
तत्र पापविशेषाणां प्रतिबन्धकता यदि।
तदा तच्छमनायासो भक्तावप्यपरैः समः ॥३॥
प्रतिबन्धेऽपनीते तु ज्ञानेऽपि रतिरीक्ष्यते।
जीवन्मुक्ति पदं नाम प्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः ॥४॥

वृत्त्यभिव्यक्तचैतन्यं परमं ज्ञानमिष्यते ।
तच्च ब्रह्म सदानन्दविग्रहं नित्यमच्युतम् ॥५॥
ततो वृत्तिविनाशेऽपि किमस्माकं विहीयते ।
प्रतिमायां प्रजातायां मूषा नश्यतु का क्षतिः ॥६॥
द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं योगस्य फलमीरितम् ।
निजस्वरूपमानन्दविग्रहं वेदसंमतम् ॥७॥

नाम स्मरण श्रवणादि काल में किसी किसी को कोई आनन्द नहीं आता। बल्कि नींद आने लगती है। अतः कोई प्रतिबन्धक अवश्य मानना होगा। प्रतिबन्धक न होने पर ज्ञान और योग में भी आनन्द है। जीवन्मुक्ति सुख प्रसिद्ध है। वृत्ति नष्ट होने पर भी वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य तो नित्य रहेगा प्रतिमा बनने के बाद मूषा नष्ट हो तो हानि भी क्या है।

❀ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च ॥२७॥❀

ईश्वर भी अभिमान से द्वेष और दीनता से प्रेम करते हैं।

सत्यमीश्वरकारुण्यानपेक्षणविधत्वतः ।
क्लेशाधिक्यं भवेज्ज्ञानप्रभृताविति निश्चितम् ॥८॥
गीतायामर्जुनप्रश्ने हरिणा तत्स्फुटीकृतम् ।
ज्ञानादौ क्लेशबाहुल्यं भक्तेश्च सुगमाध्वताम् ॥९॥
ज्ञानमार्गे व्रजन्मर्त्यः स्वतन्त्रः स्वावलम्बनः ।
श्रुत्वा मत्वा निदिध्यास्य द्रक्ष्याम्यात्मानमित्यसौ ॥१०॥
स्वकर्तृत्वाभिमानी सन्न दैन्यं प्रतिपद्यते ।
ततश्च हरिकारुण्यविरहान्निपतेदसौ ॥११॥

स्वभावो हि हरेरेष नित्यकल्याणकारिणः ।
अभिमानमसौ द्वेष्टि प्रीणात्ययि च दीनताम् ॥१२॥

इसका उत्तर यह है कि ज्ञानमार्गी स्वयं श्रवण मनन और निदिध्यासन से आत्मदर्शन करूँगा ऐसा अभिमान रखता है दीन नहीं होता। और भगवान् अभिमान से द्वेष रखते हैं तथा दीनता पसन्द करते हैं। फलतः भगवत्कृपा उसे प्राप्त नहीं होती तो पतित हो जाता है।

योगमार्गेऽपि भगवत्कृपाविरहेतुना ।
भ्रश्यन्तो बहवो दृष्टा अभिमानपराहताः ॥१३॥

योग मार्ग में भी कई ऐसे गिरने वाले देखे गये हैं।

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१४॥

इत्येवं भगवद्वाक्यात्सर्वं कारयते प्रभुः ।
न मे किंचन सामर्थ्यं नाहं कर्त्ता कथंचन ॥१५॥

इत्येवमभिमानस्य विरहाद्दैन्यभावनात् ।
भगवत्करुणापात्रं भवन्न पतनं व्रजेत् ॥१६॥

इत्थं च साधनाकाले रत्यभावे समेऽपि च ।
ज्ञानादिभ्यः पराभक्तिरीशकारुण्यवाहिनी ॥१७॥

भगवान् ही सब कुछ करते कराते हैं, मैं कुछ नहीं हूँ, इस प्रकार निरभिमान दीन भक्त पर भगवत्कृपा होती है। अत एव साधन काल में ज्ञानादि से भक्ति उत्तम होती है।

फलकाले तु वैशिष्ट्यं प्रागेवात्र निरूपितम् ।
इत्थं च सर्वदा भक्तेर्गरीयस्त्वमति स्फुटम् ॥१८॥

ॐ

फल काल में तो विशेषता पहले ही कही जा चुकी है ।

इति भक्तेः कर्मादिभ्योऽधिकतरत्वनिरूपणं नाम षष्ठं प्रकरणम्

समाप्तश्चायं प्रथमो लक्षणखण्डः





अथ द्वितीयः साधनखण्डः

ॐ

अथाभिमान शून्यत्वं दीनत्वं च कथं भवेत् ।
न च स्वतः संभवति मायामग्नस्य देहिनः ॥१॥
भक्त्याभिमानविहतिर्दीनतोद्भव एव च ।
इति चेदुच्यते तर्हि भक्तिः कस्मात्समुद्भवेत् ॥२॥
भक्त्याभिमानविस्रंसस्ततश्च करुणा हरेः ।
तया च भगवद्भक्तिश्चक्रकं तदिदं भवेत् ॥३॥

भक्ति के लिये अभिमान नाश और दीनता चाहिये जिससे भगवत्कृपा हो परन्तु अभिमाननाशादि भक्ति से ही होगा। यह चक्रक हो गया।

ॐ तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥२८॥ ॐ

ज्ञान ही भक्ति का साधन है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है।

अत्राचार्याः कतिचन ज्ञानं तत्साधनं जगुः ।
भगवद्रूपविज्ञानादभिमानादिहानतः ॥४॥
जन्माद्यस्य यतो भूम्नो ह्यन्वयव्यतिरेकतः ।
स स्वराट् सर्वशक्तश्च भ्रामयत्यखिलं जगत् ॥५॥
इत्थं श्रुत्या च युक्त्या च भगवद्रूपवेदनात् ।
कर्तृत्वमदविस्रंसो दैन्यं चोत्पद्यते नृणाम् ॥६॥
ततश्च भगवद्भक्तिर्जायते हृदि निर्मला ।
तथा च भगवानाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ७ ॥

उत्तर कुछ आचार्य इस प्रकार कहते हैं कि सर्वजगत् कारण भगवान् है इत्यादि श्रुतियुक्तिजन्य ज्ञान ही भक्ति का साधन है। उससे अभिमानादिनाश होने पर भक्ति उत्पन्न होती है। अतएव भागवत में जन्माद्यस्य इत्यादि प्रथम ज्ञान श्लोक है। गीता में भी बताया है कि :—

❀ सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ८ ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ९ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥१०॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥११॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ❀ ॥१२।

परम ज्ञाननिष्ठा अहंकारादित्यागपूर्वक परा भक्ति ही है॥

जानतः प्रत्ययश्चित्ते प्रीतिः प्रतियतो हृदि।
दृढा भक्तिर्भवेत् प्रीत्या इति सन्तोऽपि संजगुः ॥१३॥

'जाने विनु न होइ परतीति' इत्यादि सन्तों का भी वचन है।

पराकृतनमद्ब्रन्धं सदानन्दैकविग्रहम्।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं ज्ञात्वा प्रीणन्ति साधवः ॥१४॥

औदार्य माधुर्य सौन्दर्यादिज्ञान से ही तो प्रीति होती है।

ज्ञानं च द्विविधं हेतुः शाब्दं प्रात्यक्षिकं तथा।

शाब्दमस्मादृशां ज्ञानं प्रत्यक्षं व्रजवासिनाम् ॥१५॥
पराकृतनमद्बन्धभावादिर्नोपयुज्यते ।
प्रत्यक्षे तं विनाप्येव गोपीनां प्रेमदर्शनात् ॥१६॥
विदुर्यद्यपि गोप्योऽपि यतो व्रजजनार्तिहन् ।
इत्याद्यूचुस्तथाप्येतत्तत्प्रेम्णो नैव कारणम् ॥१७॥

ॐ

'पराकृतनमद्बन्धं' इत्यादि शाब्दज्ञान से हमें प्रेम होता है। गोपियों को प्रत्यक्षज्ञान से प्रेम हुआ। उसमें औदार्यादि ज्ञान कारण नहीं है; व्रजजनार्त्तिहन् वीर योषितां इत्यादि भले ही वे बोल गयी हों।

ॐ

❀ अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥२९॥ ❀

दूसरे आचार्य ज्ञान और भक्ति की अन्योन्याश्रयता मानते हैं।

अन्ये तूदाहृताद्वाक्याद् हरिणा समनन्तरम् ।
ज्ञाने भक्त्युद्भवत्वोक्तेरन्योन्याश्रयतां जगुः ॥१॥
❀ भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ❀ ॥२॥
भक्त्युत्तरमभिज्ञानं तत्त्वज्ञानं ततः परम् ।
तदेतद्भगवद्वाक्यात्स्पष्टमत्रावगम्यते ॥३॥
❀ भक्त्या त्वनन्यया लभ्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ❀ ॥४॥
❀ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥५॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते* ॥६॥
* वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् * ॥७॥
इत्यादिभिश्च वचनैर्ज्ञानं भक्त्युद्भवं स्तुतम् ।
ततश्चोभयथावाक्यादन्योन्याश्रयता स्थिता ॥८॥

भक्ति से ज्ञान होता है ऐसे भी अनेक वचन हैं अतः भक्ति और ज्ञान की अन्योन्याश्रयता सिद्ध होती है ।

ननु दोषस्तन्त्रविद्भिरन्योन्याश्रयतोदितः ।
नौर्नावि बद्धा नान्यत्र त्राणायेति हि शेषगीः ॥९॥
नैवमीषदभिज्ञानादीषत् प्रेम ततोऽधिकम् ।
ज्ञानं ततोऽधिकं प्रेमेत्यन्योन्याश्रयतेष्यते ॥१०॥
क्रियया जायते वेगो वेगादभ्यधिका क्रिया ।
वेगस्ततोऽधिक इति प्रत्यक्षं शकटादिषु ॥११॥
कर्मनाशो मनोनाशो वासनाक्षय इत्यमी ।
अन्योन्याश्रयिणः प्रोक्ता यथा वेदान्तकोविदैः ॥१२॥

अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। प्रथम थोड़ा ज्ञान उससे अल्प प्रेम उससे अधिक ज्ञान उससे अधिक प्रेम यही यहां अन्योन्याश्रयता है। जैसे क्रिया से वेग, वेग से अधिक क्रिया गाड़ी आदि में होती है। वेदान्त मत में कर्मनाश मनोनाश और वासनाक्षय परस्पराश्रित है।

श्रद्धया लभ्यते देवो ज्ञानं नात्रास्त्यपेक्षितम् ।
इति केचिद्वदन्तोऽत्र प्राहुर्वृद्धानिदर्शनात् ॥१३॥
[वृद्धा यतेः प्राप्तशालग्रामा तत्पूजने रता ।
वञ्चकोक्तवृकत्रासात्त्रिरात्रं न समस्वपत् ॥
चतुर्थे भगवन्तं हि समायान्तं न्यरूरुधत् ।
वृकत्रासाभावमुक्त्वा गोलोकं तां निनाय सः ॥]
तन्न ज्ञानानपेक्षत्वे सूत्राक्षरविरोधतः ।
अन्योन्याश्रयतैवात्र सूत्रे देवर्षिणोच्यते ॥१४॥

ॐ

एक वृद्धा को किसी महात्मा ने शालग्राम दिया । वह पूजा करने लगी । किसी धूर्त्त ने कहा कि भेड़िया इसे खाने आयेगा वह दिन रात जागने लगी । तब स्वयं भगवान् आये तो उनको भी उसने रोका । भगवान ने कहा ऐसी जगह तुम्हें मैं ले जाऊँगा जहां भेड़िया ही न हो । फिर उसे गोलोक ले गये । इस दृष्टान्त से केवल श्रद्धा ही भक्ति का कारण सिद्ध है, ज्ञानादि नहीं, ऐसा सूत्रार्थ तो प्रकृत सूत्र के अक्षरों से प्रतीत नहीं होता । इसलिये ग्राह्य नहीं है ।

ॐ

स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ॥३०॥

भक्ति स्वयं का ही फल है यह ब्रह्मकुमारों का मत है ।

स्वयंफलस्वरूपत्वं कुमाराः सनकादयः ।
नारदोऽपि जगौ भक्तेर्ब्रह्मणो ह्यादिसूनवः ॥१॥
भक्तिरेव फलं विष्णोर्भक्तिरेव च साधनम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्येत्याह योगेश्वरो नृपम् ॥२॥

भक्ति ही फल है और भक्ति ही साधन भी है। यह सनकादि का और नारद का मत है।

ननु साधनभक्तिस्तु श्रवणादिरुपेयते।
साध्या भक्तिस्ततोऽन्यैव कीर्त्तिता प्रेमलक्षणा ॥३॥
भक्त्या संजातया भक्त्येत्यत्राप्येषोऽर्थ इष्यते।
स्वयं स्वफलरूपत्वं ततो भक्तेर्न सिद्धयति ॥४॥
साधनस्यैव साध्यत्वे स्वयंशब्दः समञ्जसः।
स्वयंप्रकाश इत्यादौ न प्रभाद्वयमीक्ष्यते ॥५॥
अत्रोच्यते नित्यमेव भगवन्नाम गृह्णतः।
प्रत्यूहविहतेस्तद्धि रसभावं प्रपद्यते ॥६॥
हरेर्नाम च रूपं च द्वयं प्रेमात्मकं मतम्।
प्रतिबन्धविशेषेण रसत्वं नानुभूयते ॥७॥

पूर्वपक्षः—साधन श्रवणादिभक्ति है और साध्य प्रेमलक्षणा भक्ति। तब स्वयं स्व का फल कैसा? यह तो नाम की ही एकता हुई। उत्तर यह कि नामादि स्वयं ही प्रेमस्वरूप है। प्रतिबन्ध होने से रसरूप प्रतीत नहीं होते।

अस्ति प्रेमाम्बुधिः कोऽपि परिच्छेदविवर्जितः।
तस्य प्रतिष्ठा रूपं च नाम चेति हरेर्द्वयम् ॥८॥
* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च * ॥९॥
यथाम्बरभवो भास्वान् परिच्छिन्नोऽपि वस्तुतः।
अपरिच्छिन्नदीप्तीनां प्रतिष्ठेत्यभिधीयते ॥१०॥

विशेषः पुनरेतावान् प्रभोर्द्भवति नश्यति ।
प्रेमाम्बुधिरनन्तोऽयं नोत्पत्तिलयभाग् भवेत् ॥११॥

श्रीधरस्वामिनोऽप्येवं गीताश्लोकार्थमब्रुवन् ।
न च लौकिकभेदोऽस्ति प्रतिष्ठेयप्रतिष्ठयोः ॥१२॥

प्रेमसागर की प्रतिष्ठा है भगवानका नाम और रूप। जैसे व्यापक प्रकाश की प्रतिष्ठा सूर्य है। यह ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं इस गीता श्लोक में और श्रीधरी टीका में स्पष्ट है। प्रतिष्ठेय और प्रतिष्ठा में लौकिक भेद न होने से स्वयंफलत्व भी संभव है।

सूर्यस्येव प्रभा प्रेमेत्येके दृष्टान्तमूचिरे ।
कृष्णप्रतिष्ठितत्वेन दृष्टान्तो युज्यतेतराम् ॥१३॥

समुद्रे वीचिवत्प्रेम्णि कृष्ण इत्यपरे जगुः ।
प्रेम्णो बृहत्त्वाब्धित्यत्वात्स दृष्टान्तोऽपि युज्यते ॥१४॥

न्यूनत्वमुभयोरेव स्पष्टं दृष्टान्तयोः स्थितम् ।
अनिर्वाच्यमतः प्रेमस्वरूपं वक्ष्यते मुनिः ॥१५॥

सर्वथापि च नामादि साध्यसाधनभावभाक् ।
साधनं प्रतिबन्धे हि साध्यं तद्विगमे सति ॥१६॥

सूर्य के समान कृष्ण, प्रभा के समान प्रेम यह एक मत है। समुद्र के समान प्रेम, तरंग के समान कृष्ण यह दूसरा मत है। दोनों ही ठीक हैं और वस्तुतः अनिर्वचनीय ही हैं। कुछ भी हो, नामादि साधन और साध्य दोनों है। प्रतिबन्धकाल में साधन है और उस के अभाव में साध्य है।

प्रवृत्तिमात्रे ज्ञानस्य विषयत्वेन हेतुता ।
यद्यप्यस्ति तथाप्येतन्न त्वसाधारणं मतम् ॥१७॥

इत्थं च ज्ञानसाध्यत्वं न भक्तेरुपगम्यते ।
कालादृष्टादिसाध्यत्वं यथा नैवोररीकृतम् ॥१८॥

ऐसे तो कुछ ज्ञान तो प्रवृत्ति मात्र में अपेक्षित है। तथापि काल अदृष्टादि के समान वह साधारण कारण है, साधन नहीं है।

स्वयमेव ततः स्वस्या असाधारणकारणम् ।
नामस्मृत्यादिभिर्यस्मात्प्रतिबन्धोऽप्यपोह्यते ॥१९॥

नामस्मरणादि से ही प्रतिबंध भी हटते हैं। अतः स्वयं कारण हुआ

केचित्तु ज्ञानफलतां भक्तेर्वारयितुं मुनिः ।
स्वयं फलस्वरूपत्वं तस्याः समुदटङ्कत ॥२०॥
न च स्वयंपद व्यर्थं फलस्यापि फलान्तरम् ।
क्वचिद् दृष्टं वारयितुं तदुक्तेः सार्थकत्वतः ॥२१॥
वाणिज्यादिफलं द्युम्नं पुरुषार्थतया मतम् ।
दृश्यते तत्फलं चापि कामो वा धर्म एव वा ॥२२॥
विभिन्नसाधनानां तु दृश्यतेऽग्रे हि वर्णनम् ।
स्वयंसाधनरूपत्वे तदुक्तिर्व्यर्थतामियात् ॥२३॥
न च तस्याः फलं किंचिदपि ज्ञानादिलक्षणम् ।
फलान्तरानपेक्षित्वात्ततो भक्तिर्गरीयसी ॥२४॥
तच्चिन्त्यं साधनं तस्या ज्ञानमेवेत्युपक्रमात् ।
वर्णनं साधनानां यदग्रे तद् विवरीष्यते ॥२५॥

भक्ति का फल ज्ञानादि नहीं है भक्ति स्वयं ही फल है। ऐसा सूत्रार्थ कुछ लोग करते हैं। परन्तु 'तस्या ज्ञानमेव साधनं' इस उपक्रम से यहां फलचिन्तन प्रतीत नहीं होता।

ननु कर्मादितो भक्तेरधिकत्वनिरूपणे ।
निर्दिष्टं फलरूपत्वं कुतोऽत्र पुनरुच्यते ॥२६॥
अत्राहू रसरूपत्वात्फलात्मत्वे पुरेरितम् ।
अत्रान्यसाधनाऽसाध्यभावादुक्ता फलात्मता ॥२७॥
परमः पुरुषार्थोऽयं भक्तिरित्यब्रवीत्पुरा ।
तत्र कर्मादयो हेतुरित्याशङ्कोपजायते ॥२८॥
नैव कर्मादिसापेक्षा भक्तिरेषा स्वयंफला ।
तथा चाधिकता तस्या निरातङ्केति सिद्ध्यति ॥२६॥

शंकाः—भक्ति को फलरूप पहले ही बताया, यहां पुनरुक्तिक्यों ? इसका उत्तर यह कि पहले रसरूप पुरुषार्थ होने से फलरूप बताया। यहां कर्मादिसाधनान्तरापेक्षा नहीं स्वयं साधन और साध्य बताया जा रहा है, अतः विषय भेद है।

स्वसाधनस्वरूपत्वमेव नन्वाह नो कुतः ।
स्यं फलान्तरं चापि किंचिन्नेत्यत्र सूच्यते ॥३०॥
आवृत्त्या तन्त्रतो वा तदथवास्तु विवक्षया ।
इत्थं चोत्तरसूत्रार्थविषयोऽप्युपतिष्ठते ॥३१॥

ॐ

तब स्वयं साधनरूपता ही क्यों नहीं कहा ? उत्तर यह कि भक्ति का फलान्तर नहीं है यह भी यहां सूचित करना है। वह सूत्रावृत्ति से या तन्त्र से या विवक्षा से समझना चाहिये। अतएव उत्तर सूत्र का विषय भी उपस्थित होता है।

ॐ

स्वयंफलस्वरूपत्वं ननु भक्तेर्न युज्यते।
भगवत्परितोपस्य स्वरसस्य च दर्शनात् ॥१॥

भक्ति का फल भगवत्प्रीति और स्वानन्द है अतः स्वयं फल कैसी।

*** राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥३१॥ ***

जैसे राजगृहभोजनादि स्वयं फल देखा जाता है ॥३१॥

राज्ञा निमन्त्रितः कोऽपि मन्त्री वा सेवकोऽथवा।
भुङ्क्ते राजगृहे नानाविधमन्नं सवैभवम् ॥२॥
राजसंमानरूपत्वात्तत्स्वयंफलमेव हि।
संमानार्थं यतन्ते हि जन्तवो जगतीतले ॥३॥

राजा के निमन्त्रण पर मन्त्री या सेवक भोजन करता है वह राजसम्मान होने से स्वयं फलरूप है ॥२-३॥

* नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥४॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो राति चाशिषः ॥५॥
अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव * ॥६॥
एवं प्रह्लादवचने राजसेवकयोर्हि यः।
भावः प्रदर्शितः सोऽयमृषिणात्र विवक्षितः ॥७॥

राजा और सेवक का दृष्टान्त देकर प्रह्लादजी ने जो भाव बताय है वही यहाँ देवर्षि नारद का अभिमतार्थ है।

राजा प्रीत्यागदीद् भोक्तुं भुङ्क्ते प्रीत्या च सेवकः ।
भोजनं प्रकटं रूपं प्रीतिद्वय्या हि निश्चितम् ॥८॥
यदा च भगवत्प्रीतिर्भक्तप्रीतिर्द्वयी भवेत् ।
तदीयं प्रकटं रूपं कीर्त्तनादिकमिष्यते ॥६॥
भोजनं रसरूपं तत् प्रीत्योरनभिभूतयोः ।
कीर्त्तनं रसरूपं च प्रीत्योरनभिभूतयोः ॥१०॥
अत्रादिपदतः सूत्रे सेवा ग्राह्योक्तमानतः ।
प्रीतेः प्रकटरूपैव सेवा सा सरसान्ततः ॥११॥

राजा प्रीति से भोजन करने कहता है। सेवक प्रीति से भोजन करता है। प्रीतिद्वय का भोजन प्रकट रूप है। इसी प्रकार भगवत्प्रीति और भक्तप्रीति का प्रकट रूप कीर्त्तनादि है। आदि पद से यहाँ सेवा ग्राह्य है।

ॐ

❀ न तेन राजपरितोषः क्षुच्छान्तिर्वा ॥३२॥ ❀

राजगृहभोजन का फल राजा का संतोष भी नहीं क्षुधाशांति भी नहीं है।

विवृणोत्युक्तदृष्टान्तं स्वयमेव महामुनिः ।
अन्यार्थताभ्रमं हन्तु न तेनेत्यादिसूत्रतः ॥१॥
सम्मानपक्षे संमानमात्रेणाभूद् गतार्थता ।
राज्ञस्तोषेण संमानो न तोषस्तत्फलं भवेत् ॥२॥
आनुषङ्गिकरूपा च क्षुच्छान्तिर्न महाफलम् ।
स्वगेहभोजनेऽप्येव बुभुक्षाशान्तिसंभवात् ॥३॥
भगवत्परितोषेण कीर्त्तनादौ प्रवर्त्तते ।

कीर्त्तनादेः फलं नैव भगवत्तोष इष्यते ॥४॥
या तु स्वानन्दसंप्राप्तिः फलं तत्त्वानुषङ्गिकम् ।
तदुद्दिश्य न भक्तस्तु कीर्त्तनादौ प्रवर्त्तते ॥५॥

राज के तोष से भोजनात्मक संमान हुआ, न कि भोजन का फल राजतोष है। क्षुधाशान्ति भी आनुषंगिक फल है। वह तो अपने घर में भोजन करने पर भी होती। वैसे ही भगवत्तोष होने पर कीर्त्तनादि में प्रवृति होती है, कीर्त्तनादि का फल भगवत्तोष नहीं है। कीर्त्तन में जो कर्णानन्दादि है वह आनुषंगिक है। उस उद्देश्य से भक्त कीर्त्तन नहीं करता।

इदं सूत्रद्वयं केचिद्विवृण्वन्त्यन्यथा वुधाः ।
ज्ञानाकिंचनतादार्ढ्यसंपादनपरायणाः ॥६॥
राजज्ञानं नैव राजपरितोषादिकारणम् ।
भोजनज्ञानमप्येवं नैव क्षुच्छान्तिकारणम् ॥७॥
दृष्टमेतद् राजगृहे भोजनादौ यथायथम् ।
एवं हि भगवज्ज्ञानं न तत्तोषादिकारणम् ॥८॥
तदसन्मास्तु विज्ञानाद् भक्तिः क्षुच्छान्तिरेव वा ।
भक्त्या ज्ञानजनुःपक्षः कथमेतेन खण्डितः ॥९॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा मद्भक्तिं लभते पराम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं भजतामिति चोदितम् ॥१०॥

इन दो सूत्रों की व्याख्या कुछ लोगों के मत में ऐसी है कि राज गृह और भोजन में ज्ञान से फल नहीं होता। राजा के ज्ञान से राज तोष और भोजन के ज्ञान से क्षुधाशांति नहीं होती। अर्थात् केवल ज्ञान निरर्थक है। यह मत असंगत है। भक्ति का ज्ञान फल नह

है इस पक्ष का इस से कहां निराकरण हुआ ? दूसरी बात, गीता में भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति बतायी है। उसका खंडन नारदजी क्यों करने लगे ?

ज्ञानादेरवधिर्भक्तिर्भक्त्या ज्ञानं तदैषिणः।
इत्यस्मद्वर्णिते नैव गीतावचनखण्डनम् ॥११॥
ऐकान्तिको नैव हेतुर्भक्तौ बोधादिरिष्यते।
किं च साक्षात् फलं मुख्यं तस्या ज्ञानादिकं न हि ॥१२॥
भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येनेत्यादेः सर्वफलं हि सा।
अकामः सर्वकामो वेत्यादेः सर्वफलं ततः ॥१३॥

ज्ञानादि की अवधि भक्ति है। भक्ति से ज्ञानकाम को ज्ञान मिलता है। ज्ञानादि भक्ति का ऐकान्तिक कारण नहीं है और ज्ञानादि भक्ति का परम फल भी नहीं है। भगवान् ब्रह्म कात्स्र्येन इस वचन से सर्व साधना का फल भक्ति है। और अकामः सर्वकामो वा वचन से भक्ति से सर्वफल प्राप्ति होती है।

किन्तु स्वसाधनं चैव स्वफलं च स्वयं यतः।
अतोऽद्भुततमा सेति हृदयं ब्रह्मजन्मनः ॥१४॥
तत्र स्वफलमेताभ्यां सूत्राभ्यां सनिदर्शनम्।
उपपादितमित्येव संगतं मन्महे वयम् ॥१५॥

ॐ

अपना साधन और अपना साध्य स्वयं होने से भक्ति अद्भुतरूपिणी है यह देवर्षि का आशय है। स्वयं अपना फल है उसका फलान्तर नहीं, यह यहाँ के सूत्रों में सोदाहरण कहा।

ॐ

❀ तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥३३॥ ❀

इसलिये भक्ति ही मुमुक्षुओं को ग्रहण करना चाहिये ।

कर्मविज्ञानयोगेभ्यो भक्तेरत्यधिकत्वतः ।
स्वयंफलस्वरूपत्वात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥१॥
ननु ग्राह्यत्वचिन्ता तु साधनेषु प्रवर्त्तते ।
यस्त्वन्येच्छानधीनेच्छाविषयस्तत्स्मृतं फलम् ॥२॥
मैवं साधनरूपापि भक्तिरेवेत्युदीरितम् ।
फलरूपापि सैवेति सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥३॥
मुमुक्षूणां साधनात्मा मुक्तानां फलरूपिणी ।
साधनत्वस्य लाभार्थं मुमुक्षुभिरितीरितम् ॥४॥
ग्राह्येत्यस्य परे त्वर्थं प्राप्तव्येति समब्रुवन् ।
साधनैः सैव संप्राप्या सर्वोत्कृष्टफलं यतः ॥५॥

यह स्वयं उत्तम साधन है । अतः साधक मुमुक्षुओं को भक्ति ही अपनानी चाहिये । अथवा परमोत्तम फल होने से भक्ति ही साधनों से प्राप्त करना चाहिये ।

ननु मोक्षः फलं नास्या भक्तेरित्यधुनेरितम् ।
स्वयंफला हि सा तस्मान्न मुमुक्षुर्दधीत ताम् ॥६॥
❀ भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ।
तावद् भक्तिसुखस्यास्य कथमभ्युदयो भवेत् ❀ ॥७॥
ममुक्षा खलु मोक्षेच्छा भक्तिस्तां त्यजतो भवेत् ।
मुमुक्षुभिः कथं ग्राह्या सा तेषामन्यसाधनात् ॥८॥

श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनमेव च।
ग्राह्यं मुमुक्षुभिर्भक्तिनैव ग्राह्येति चेन्न तत् ॥९॥
* अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम् * ॥१०॥
इत्युक्तत्वान्मुक्तिफलमपि भक्त्यैव सिद्ध्यति।
काचमन्विच्छतो रत्नलाभवच्चापरं फलम् ॥११॥
सपत्नीं कामनां हन्ति भक्तिरेषा हि भामिनी।
भुक्तिमुक्तिस्पृहा तस्मात्पिशाच्यपि निवर्तते ॥१२॥

शङ्का:—मुमुक्षु को श्रवण मनन निदिध्यासन करना चाहिये क्योंकि मोक्षेच्छा को भी भक्ति के सामने पिशाची कहा है। उत्तर यह कि भक्ति से मोक्ष भी मिलेगा और धीरे धीरे मोक्षेच्छापिशाची भी निवृत्त होगी। फलतः कांच को ढूँढ़ने वाला रत्न पा गया कहावत चरितार्थ हो जाती है।

अथ वात्र हि मोक्षेच्छुः कल्याणेच्छुर्विवक्षितः।
किं वा साधक एवात्र मुमुक्षुपदशब्दितः ॥१३॥

अथवा मुमुक्षु का कल्याणेच्छु या साधक अर्थ समझना चाहिये।

यद्वा मुमुक्षुरित्यत्र मोक्षो नो भावलक्षणः।
निवृत्तिः पञ्चपर्वाया अविद्याया विवक्षिता ॥१४॥
* यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् * ॥१५॥
* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे * ॥१६॥

* अतो वै कवयो नित्यं भक्ति परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादिनीम् * ॥१७॥
* मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः * ॥१८॥

ॐ

अथवा मुमुक्षु शब्दान्तर्गत मोक्ष का पंचपर्वा अविद्या की निवृत्ति अर्थ है। यदि रासीश इत्यादि में यह अर्थ व्यक्त है।

इति भक्तेः स्वयंफलरूपत्वनिरूपणं नाम सप्तमं प्रकरणम् ।

ॐ

❀ तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥३४॥ ❀

आचार्य लोग भक्ति के नाना साधन बताते हैं।

मायाख्याया अविद्याया निवृत्तिं मोक्षलक्षणाम् ।
इच्छद्भिर्ग्राह्यभक्तेर्हि साधनानि जुगुर्बुधाः ॥१॥

अविद्यानिवृत्ति मोक्ष है यह पहले कहा। अविद्या माया ही है। (आगे कस्तरति मायां इस प्रश्न के उत्थान में भी यही बीज है) उस मोक्ष के इच्छुक क्या साधन अपनायें यह यहां कहेंगे।

ननु स्वयं साधनत्वं भक्तेः सांप्रतमीरितम् ।
आचार्याः साधनान्यस्या गायन्त्यत्र पुनः कुतः ॥२॥
उच्यते साधनं नाम सहायकमिहेष्यते ।
भूमिसंशोधनादीनि यथा सन्त्यङ्कुरोद्भवे ॥३॥
बीजे पूर्वं विद्यमानो योऽङ्कुरः स प्ररोहति ।
भूशोधजलसेकाद्याः साहाय्यं तत्र कुर्वते ॥४॥

पूर्वप्रकरणार्थश्चेद् भक्तेर्नास्ति फलान्तरम् ।
तदा साधनजिज्ञासा भवत्यत्रेति संगतम् ।।५।।

यद्यपि भक्ति स्वयं अपना साधन है यह कहा गया तथापि सहायक साधन की जिज्ञासा संभव है। पहले प्रकरण में यदि भक्ति का फलान्तर नहीं यह अर्थ हो तो साधन जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है।

यद्वा स्वयं साधनत्वे स्वपदार्थोऽभिधीयताम् ।
स्वयं प्रेमैव न प्रेमसाधनं वदितुं क्षमम् ।।६।।
ननूक्तं प्रेमरूपं हि साधनं श्रवणादिकम् ।
सत्यं व्याख्याकृता प्रोक्तं न तु सूत्रकृता स्वयम् ।।७।।
इत्थं च स्वफलं प्रेमेत्युक्ते प्रेम स्वसाधनम् ।
साधनं श्रवणादीति प्रेमाभेदश्च सूच्यते ।।८।।

अथवा स्वयंफल कहने से साधन और फल की एकता सिद्ध हुई। वहां 'स्व' से क्या लेना यह सूत्रकार ने नहीं कहा। आगे श्रवणादि साधन कहेंगे। फलतः श्रवणादि स्वयं प्रेमरूप है यह ध्वनित हो जाता है।

नन्वेवं स्वपदार्थोऽत्र श्रवणादीति भण्यताम् ।
साधनत्वेन तत्कस्माद् गौरवेणाभिधीयते ।।९।।
मैवं न रसरूपेण श्रवणादिः प्रतीयते ।
तदा साधनरूपं तदिति वक्तव्यमस्ति हि ।।१०।।
सहकारि च वक्तव्यं सङ्गत्यागादिकं ततः ।
पृथक्साधनभावेन तदुक्तिर्युज्यतेतराम् ।।११।।

शङ्का :—स्वयंपदार्थ श्रवणादि है इतना कहने से ही अर्थ

लाभ होता उसको 'तस्याः साधनानि' इस प्रकार साधन रूप से शब्दतः कहने में गौरव (प्रयत्नाधिक्य) है। उत्तर यह है कि श्रवणादि रसरूप से प्रतीत नहीं होता है। अतः श्रवणादि साधन भले हो, किन्तु फल कैसा यह शङ्का होगी। अतः जब तक रसरूप से प्रतीत नहीं होता तब तक उसे साधन रूपेण ही ग्रहण करना चाहिये। इसके लिये साधनत्वेन वर्णन किया जा रहा है। साथ में संगत्यागादि सहायक साधन भी कहना ही है।

श्रवणत्वादिरूपेण साधनं श्रवणादिकम्।
फलं प्रेमत्वरूपेण तदित्यपि विवक्षितम्॥१२॥

श्रवण के रूप में श्रवण साधन है और वही प्रेमरूप से फल है यह भी यहां विवक्षित है।

स्वयंफलत्वं स्वमत आचार्यास्तु पुनः पृथक्।
गायन्ति साधनान्यस्या इत्यप्यर्थं परे जगुः॥१३॥

स्वमत में स्वयंफल है। अन्य आचार्य साधनान्तर वर्णन करते हैं ऐसा भी इसका अर्थ करते हैं।

मधुरौ यत्र शब्दार्थौ प्रेम प्रत्यक्षरं तथा।
गानं तदुच्यते भक्तेराचार्याणां तथैव तत्॥१४॥

ॐ

शब्द और अर्थ मधुर होने पर 'गायन्ति' कहा जाता है।

ॐ

अथाचार्यैः प्रबुद्धाद्यैः प्रह्लादादिभिरेव च।
प्रोक्तेषु साधनेष्वत्र संक्षेपात् किंचिदुच्यते॥१॥

* यथेमामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् *॥२॥

विदेहमेवं पृच्छन्तं भक्तिं तत्तारिणीं वदन् ।
प्रबुद्धः प्राह योगेशो भक्तिसाधनमुत्तमम् ॥३॥
*कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च ।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥४॥
नित्यार्त्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना ।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥५॥
एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्त्तिनाम् ॥६॥
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपरमाश्रयम् ॥७॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥८॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥९॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥१०॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं संतोषं येन केनचित् ॥११॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥१२॥
श्रवणं कीर्त्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।

जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥१३॥
इष्टं दत्तं जपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् ॥१४॥
एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥१५॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथोरतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ।१६॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्* ॥१७॥
एतेषु स्वयमुक्तेषु वसुदेवाय नारदः ।
संक्षिप्यावश्यकान्याह साधनानि महामुनिः ॥१८॥

प्रबुद्धादि योगेश्वर एवं प्रह्लादादि के बताये साधनों में और जो स्वयं नारद जी ने वसुदेव को बताया जिनमें कर्माण्यारभमाणानां इत्यादि विषयत्यागपरक हैं, तस्माद् गुरुं इत्यादि महत् कृपा महत् सेवादि परक हैं, दयां मैत्रीं इत्यादि प्राप्तव्य गुण हैं, श्रवणं कीर्तनं इत्यादि विशिष्ट भक्ति हैं, इनमें से आवश्यक विशिष्ट साधनों को यहां संक्षेप से देवर्षि नारद जी दिखा रहे हैं।

* तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥३५॥ *

भक्ति विषयों के त्याग से और संग के त्याग से प्राप्त होती है।

* विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते * ॥१९॥
इति विस्पष्टमुदितं प्रकाशतमसी इव ।

दूरं हि विपरीतौ द्वौ भगवान् विषयस्तथा ॥२०॥
तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥२१॥
* चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये * ॥२२॥
एतेषु विषयासक्तिवर्जनं हि प्रतीयते ।
स्वरूपतः परित्यागादासक्तित्याग ऊर्जितः ॥२३॥
* मद्वार्त्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः * ।
इत्येवं भगवद्वाक्यादप्येषोऽर्थो हि लभ्यते ॥२४॥

विषय चिन्तन से मन विषयों में लीन होता है भगवच्चिन्तन से भगवान में लीन होता है। अतः विषय और भगवान् प्रकाश और तम के समान विपरीत हुए। परन्तु स्वरूपतः विषय छोड़ने की अपेक्षा विषयासक्तित्याग श्रेष्ठ है।

प्रमत्तस्य वनेऽपि स्यात्षट्सपत्नवतो भयम् ।
प्रियव्रतं प्रति प्रोक्तं तदेतत्परमेष्ठिना ॥२५॥
अजितारेर्वने पातो भरतस्य पुराऽभवत् ।
विषिण्वन्तीति विषयाः समाना विपिनेष्वपि ॥२६॥

प्रमादी के लिये जंगल भी घर जैसा होता है। भरत का पतन प्रसिद्ध ही है।

वस्तुतो देहयात्रान्तान् विषयानतिरिच्य ये ।
स्वरूपतोऽपि ते त्याज्या बन्धस्वाभाव्यकारणात् ॥२७॥
* एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः ।

सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः ॥२८॥

❀ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ❀ ॥२९॥

इत्येतादृशवाक्येषु विषयासक्तचेतसाम् ।
आसक्तिवर्धकत्वेन स्वरूपत्यागसूचनात् ॥३०॥

नन्वासक्तस्य वर्धेत निरासक्तेः कथं तथा ।
नैवमासक्तिसंत्यागो ह्यासक्तायोपदिश्यते ॥३१॥

वस्तुतः शरीरनिर्वाहोपयोगी जितने हों उनसे अतिरिक्त विषयों का स्वरूपतः त्याग ही करना चाहिये । नहीं तो अग्नि में घी के समान वह आसक्ति को बढ़ायेगा ।

विषयो द्विविधः प्रोक्तो दिव्यो लौकिक एव च ।
दिव्यस्तु भगवच्छब्दस्पर्शरूपादिलक्षणः ॥३२॥

न संत्याज्यो न चासक्तिस्त्याज्या तद्विषया क्वचित् ।
लौकिको विषयस्त्याज्यः शब्दस्पर्शादिरुच्यते ॥३३॥

भगवत्कीर्त्तनस्वरादि दिव्यविषय त्याज्य नहीं है ।

सहस्थानासनालापव्यवहारादिलक्षणः ।
सङ्गोऽपि द्विविधः प्रोक्तः सतामप्यसतामपि ॥३४॥

❀ स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमं विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥३५॥

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसां तथा तत्सङ्गिसङ्गतः ❀ ॥३६॥

इममर्थं सौभरिश्च जगाद मुनिसत्तमः ।

अन्तर्जले वारिचरप्रसङ्गच्युतसत्तपाः ॥३७॥
यद्यप्यसत्यः सकला न भवन्ति स्त्रियो भुवि ।
सङ्गस्तथाप्यसंस्तासामिति शास्त्रकृतां मतम् ॥३८॥
वस्तुतो महतां स्त्रीत्वे पुंस्त्वे वा कोऽपि नाग्रहः ।
कामप्रयोजकः सङ्गस्त्याज्य इत्येव तन्मतम् ॥३९॥
यः पुनर्महतां सङ्गो न संत्याज्यः कदाचन ।
वक्ष्यते मुनिनैवात्र दुर्लभत्वादि तस्य तु ॥४०॥
❀ प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ❀ ॥४१॥
इत्यादिभिश्च वचनैः स्पष्टत्वान्न विवेचितः ।
प्रसिद्धः केवलः सङ्गशब्दोऽसत्सङ्ग एव च ॥४२॥

ॐ

साथ में रहना बैठना बोलना आदि सभी संग है। स्त्री संग और स्त्रैण संग को सर्वथा छोड़ना चाहिये। अर्थात् काम के प्रयोजक जो भी संग हो छोड़ना चाहिये। सत्संग तो त्याज्य नहीं है, उसकी प्रशंसा आगे करेंगे ही।

ॐ

❀ अव्यावृतभजनात् ॥३६॥ ❀

अव्यावृत भजन से भक्ति सिद्ध होती है।

अवृतं विगतं यस्मात्तद्धिन्नभजनादपि ।
अहं करोमि भजनमिति नैव प्रकाशयेत् ॥१॥
आस्यतो निर्गतं प्रेम क्षणान्निर्वाणमाप्नुयात् ।

द्वाराच्चेन्निर्गतो दीपः सकृदेवोपशाम्यति ॥२॥
गोपनाय प्रयत्नस्तु नैवास्थेयो विशेषतः ।
तत्रापि हानिरेवेति निषेधद्वयमीरितम् ॥३॥
इदमेव प्रबुद्धोक्तौ कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनमित्यादिवचनोदितम् ॥४॥

अनावरण शून्य भजन अर्थात् मैं भजन करता हूँ ऐसा प्रकट किये बिना भजन करें। हां छिपाने का भी विशेष प्रयास न करें एतदर्थं दो निषेध हैं। प्रबुद्धोक्ति में कैवल्यादि शब्द का भी यही अभिप्राय है।

विशिष्टावृतिराहित्यमिहोक्तमपरे जगुः ।
न लज्जेत कदाप्येव भगवद्भजने पुमान् ॥५॥
पूजाकथादिसेवासु तिष्ठन्नपि कदाचन ।
परं दृष्ट्वैव जिह्रेति तद्धि व्यावरणं भवेत् ॥६॥
लज्जायाः सर्वथा नात्र परित्यागो विवक्षितः ।
भजने ह्येव सा त्याज्या तत्रापि च विशेषतः ॥७॥

व्यावृत का विशेष आवरण अर्थात् लज्जा अर्थ है ऐसा भी कहते हैं। पूजादिरूपी भजन अर्थात् सेवा करते समय दूसरे को देखकर लज्जित नहीं हो। अन्यत्र भले लज्जा करें एतदथ भजन का विशेषण रखा।

अव्यावृत्तेति पाठं तु द्वितमन्येऽपठन्निह ।
नैरन्तर्यार्थकं तच्च व्यावृत्तिरहितत्वतः ॥८॥
* सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते * ॥९॥

इत्यादौ सततत्वं च नित्यत्वं च यदीरितम् ।
तदव्यावृत्तशब्देन प्रकृते ह्यभिधित्सितम् ॥१०॥
इमं हि वल्लभाचार्यः पाठमाश्रित्य सूत्रगम् ।
अन्यथा भक्तिवर्धिन्यां योजनां समचीक्लृपत् ॥११॥

*बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥१२॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् * ॥१३॥
स्वधर्मतोऽनिवृत्तश्च निवृत्तश्च क्रमादिह ।
व्याख्यातृभिः समाख्यातौ श्लोकद्वयगतौ बुधैः ॥१४॥
यद्वा सूत्रगतार्थो हि वल्लभाचार्यभाषितः ।
स्वधर्मतो गृहे स्थित्वाप्यव्यावृत्तो भजेद्धरिम् ॥१५॥
यदि च प्रतिबन्धाद्यैर्व्यावृत्तः स्यात्तदापि च ।
नैरन्तर्याय यततां भवेत्प्रेम ततोऽपि च ॥१६॥

ननु सूत्रविरोधः स्यादव्यावृत्तत्वमत्र हि ।
व्याख्यातमिति चेन्मैवमुपायपरिदर्शनात् ॥१७॥
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं न चेत्कागतिरत्र चेत् ।
व्यावृत्तोऽपि यतेतैव नासाफल्यं विशङ्क्यताम् ॥१८॥

अव्यावृत्तभजनात् ऐसा दो तकार वाला पाठ कुछ लोग मानते हैं। उसका अर्थ है—निरन्तर भजन। यही सततं कीर्त्तयन्तः इत्यादि गीता श्लोक में बताया है। श्रीवल्लभाचार्य ने भी भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ में

यह पाठ लिया है। घर में रहकर भी स्वधर्म से व्यावृत्त न होकर भजन करें। स्वधर्म से व्यावृत्त हुआ तो भी भजन करने का ही प्रयास करें ऐसा दूसरे ढंग से वहां कहा गया है। वस्तुतः हम तो स्वधर्म से अव्यावृत्त (अनिवृत्त) होकर ऐसा अन्वय नहीं समझते। किन्तु स्वधर्म से गृह में रहकर अव्यावृत्त हो भजन करें—निरन्तर भजन करें। यदि उसमें कोई बाधा आती है तो भी निरन्तर भजन का प्रयास तो करते ही रहें, उससे भी प्रेम प्राप्त होगा ही, ऐसा ही अर्थ उचित समझते हैं। उपाय कथन होने से व्यावृत्त पक्ष को लेकर सूत्र विरोध की भी शंका नहीं है।

अथात्र किं हि भजनं चेत्प्रेमात्माश्रयस्तदा।
श्रवणादिस्तदा त्वग्रे पुनरुक्तिः प्रसज्यते ॥१९॥
अत्राहुर्भजनं सेवा भजिः सेवार्थको यतः।
पूजादयस्तु सेवेति नैवाग्रे पुनरुक्तता ॥२०॥

सूत्र में भजन प्रेम हो तो प्रेम का साधन प्रेम यह आत्माश्रय हुआ। श्रवणादि हो तो वह आगे पृथक् कहना है। इसका उत्तर यह कि भजन का पूजादिरूप सेवा अर्थ है।

अथ वा भजनं नाम स्मरणं प्रकृते मतम्।
श्रवणं कीर्त्तनं चैव यतोऽग्रे संप्रवक्ष्यते ॥२१॥
*स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।
किन्त्वर्थकामान् भजतो नात्यभीष्टं जगद्गुरुः* ॥२२॥
इत्यादौ स्मरणस्यैव भजिनानूक्तिदर्शनात्।
नामरूपगुणादीनां स्मरणं चात्र गृह्यते ॥२३॥
*एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा * ॥२४॥

*आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा * ॥२५॥
*हरेर्नाम परं जप्यं ध्येयं गेयं निरन्तरम् ।
कीर्त्तनीयं च सततं निर्वृतीर्बहुधर्च्छता * ॥२६॥

अथवा भजन का यहां स्मरण अर्थ है । स्मरतः पादकमलं को ही भजतः ऐसा तृतीयपाद में कहा है । नाम रूप गुणादि का स्मरण यहां ग्राह्य है । 'एतावान्' इत्यादि श्लोकों में स्मरण की ही विशेषता बतायी है ॥

स्मरणं धारणा ध्यानं ध्रुवानुस्मृतिरेव च ।
समाधिरिति भेदाः स्युः स्मरणस्यैव पञ्चधा ॥२७॥
*येन केन प्रकारेण स्मृतो नारायणोऽव्ययः ।
अपि पातकयुक्तस्य प्रसन्नः स्यान्न संशयः * ॥२८॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं स्मरणं भव्यकारणम् ।
येन केन प्रकारेण शत्रुमित्रादिभावतः ॥२९॥
सर्वतश्चित्तमाकृष्य सामान्याकारधारणम् ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येवेत्यादिषु स्फुटम् ॥३०॥
*भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम् ।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं भवेत् * ॥३१॥
इत्यत्र ध्यानमादिष्टं परं सुहितकारणम् ।
ध्रुवानुस्मृतिरन्यत्र कपिलेन प्रदर्शिता ॥३२॥
*मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ * ॥३३॥

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु समाधिरभिधीयते ।
यथा चोक्तं नारदेन ॐ नापश्यमुभयं मुने ॐ ॥३४॥
अत्र च त्रितयं यावत्साधनत्वेन गण्यते ।
अन्त्यद्वयं तत्फलं स्यादिति केचिद्व्यवेचयन् ॥३५॥

स्मरण, धारणा, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति और समाधि स्मरण के ही पांच भेद हैं। किसी प्रकार भी स्मृति हुई तो स्मरण है। सब ओर से मन को खींचकर भगवान में लगावे तो धारणा होती है। उसी में नैरन्तर्य होने पर ध्यान कहलाता है। स्वभावतः यदि भगवान में ही मन लगा रहे तो उसे ध्रुवानुस्मृति कहते हैं। बाह्यचित्तवृत्तियों का सर्वथा निरोध होने पर समाधि मानी जाती है। इनमें प्रथम तीन (स्मरण, धारणा और ध्यान) साधन हैं और अन्तिम दो (ध्रुवानुस्मृति और समाधि) साध्य हैं ऐसे विद्वान लोग विवेचना करते हैं ॥

परे तु लोकेऽपीत्येवं लौकिकश्रवणादिकम् ।
उत्तरत्रोच्यतेऽत्रैतच्छास्त्रीयमभिधीयते ॥३६॥
तथा च भजनं नाम सकलं श्रवणादिकम् ।
विवक्षितमिहेत्येवं सूत्रव्याख्यां प्रकुर्वते ॥३७॥
श्रवणं कीर्त्तनं चाग्रे विशिष्याख्यास्यते ततः ।
युक्तं स्मरणमेवात्रेत्यनूक्तमतसंगतिः ॥३८॥

ॐ

कुछ लोग आगे लौकिक श्रवण कीर्त्तन ही बतायेंगे। अतः यहां शास्त्रीय श्रवणादि सभी भजनपदार्थ हैं, ऐसी व्याख्या करते हैं। श्रवण और कीर्त्तन विशेषतया आगे कहना है, अतः इस सूत्र में स्मरण ही विवक्षित है, यह पूर्वोक्त मत का आशय है।

ॐ

❀ लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात् ॥३७॥ ❀

लोक में भी भगवान के गुणों के श्रवण और कीर्त्तन से प्रेम होता है।

❀ शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ❀ ॥१॥
श्रवणं कीर्त्तनं चात्र पुण्यत्वेन समीरितम् ।
सुगमं तद् द्वयं लोके न तथा स्मरणादिकम् ॥२॥
तत्रापि श्रवणं नाम लोकानामतिसुग्रहम् ।
ततः श्लोके विशिष्याह शृण्वतां स्वकथा इति ॥३॥
हृद्यन्तःस्थश्च भवति श्रवणाज्झटिति प्रभुः ।
अभ्यर्हितमतस्तद्धि सूत्रे पूर्वं निपातितम् ॥४॥
श्रुतेच्छितपथं प्राह विसर्गाभिमुखो विधिः ।
स्तुवानस्तेन भगवान् गच्छति श्रवणाध्वना ॥५॥
पन्था दर्शनमप्यस्ति किं तु तद् दुर्लभं ततः ।
शृण्वतामित्यगात्कृष्णप्रवेशाभद्रनाशयोः ॥६॥
❀ नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भगवदाश्रयात् ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ❀ ॥७॥
इति तत्रैव भक्तौ च पारम्पर्येण हेतुताम् ।
श्रवणस्याह तदिदं सूत्रकारोऽनुभाषते ॥८॥

स्मरणादि की अपेक्षा श्रवण और कीर्त्तन लोक में सुगम हैं। उसमें श्रवण सुगमतर है। इसलिये शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः ऐसे

भागवत में कहा और यहां सूत्र में भी प्रथम श्रवण को लिया। 'त्वं भावयोग' इत्यादि ब्रह्मस्तुति में भगवान् को श्रुतेक्षितपथ (कान से और आंख से प्रवेश करने वाला) बताया है। उनमें भी रूप दुर्लभ है नाम ही सुलभ है। इसका फल भक्ति वहीं बतायी है जो यहां सूत्रार्थ है।

अवधेयमिदं चात्र ह्यवतारो द्विधा हरेः।
नामरूपात्मना ते द्वे शरीरद्वयमुच्यते ॥९॥
※ नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥१०॥
अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ※ ॥११॥
इत्यादौ हरिरूपत्वं नाम्नो विद्वद्भिरीरितम्।
अत एवार्थवादेषु खलदुर्वचतोदिता ॥१२॥
राम रामेति नो वक्तुं वाल्मीकिः प्राभवत्पुरा।
मरा मरेति तेनैवमृषिः समुदचारयत् ॥१३॥
इत्थं च नामश्रवणे हरिर्नामशरीरतः।
प्रविशन् क्रमशश्चित्ते विशेद्रूपाख्यवर्ष्मणा ॥१४॥
नामाधीनं भवेद्रूपं नाम शुश्रूषते हरिः।
स्वाभिन्नमपि तस्माद्धि प्रेमात्यद्भुतमुच्यते ॥१५॥
※ नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ※ ॥१६॥
नाम्नैव निजरक्षा स्यादित्येवमनुसंदधत्।

यत्र गायन्ति तद्भक्तास्तत्र तिष्ठति माधवः ॥१७॥
बालरूपस्य कृष्णस्य पूतनाक्रमणादितः ।
रक्षां नाम्नैव विदधुर्गोपिका व्रजदेवताः ॥१८॥
❀ यत्र कुत्र स्थितो वापि कृष्ण कृष्णेति कीर्तयेत् ।
सर्वपापविमुक्तात्मा स गच्छेत्परमां गतिम् ❀ ॥१९॥
गुणकर्मादिकं चैव शृणुयात्कीर्त्तयेदपि ।
अथव्यक्त्या हरिस्तत्र पुरः समुपतिष्ठते ॥२०॥
❀ इत्थं परस्य कर्माणि कषणान्येव कर्मणाम् ।
यदूत्तमस्य तत्पादानुवृत्त्यै शृणुयात्सदा ❀ ॥२१॥
❀ मर्त्त्य एधितया श्रीमच्छ्रुतिकीर्त्तनचिन्तया ।
तद्धामैति यदर्थं हि ग्रामाद् भूपा वनं गताः ❀ ॥२२॥

यह बात यहां ध्यान देने योग्य है कि भगवान् के नाम और रूप दो शरीर हैं। नाम स्वयं हरि होने ही के कारण वाल्मीकि से प्रथम राम राम नहीं कहा जा सका था। प्रथम नाम शरीर से भगवान् प्रविष्ट होने पर फिर रूप भी आ जाता है। नाम अपने से अभिन्न होने पर भी भगवान सुनना चाहते हैं। यही तो प्रेम की अद्भुतता है। इसीलिये नाहं वसामि वैकुण्ठे इत्यादि कहा है। हे नारद जहां भक्त गाते हैं वहीं मैं रहता हूँ। भगवान यही समझते हैं कि नाम से ही मेरी रक्षा होगी। अतएव पूतनादि से बचने के लिये नाम रक्षा स्तोत्र ही तो गोपिकाओं ने पढ़ा। नाम के समान गुण कर्मादि का भी श्रवण कीर्त्तनादि "इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षिषया०" "मर्त्त्यस्त-यानुसवमेधितया०" इत्यादि में कहा है।

नामोक्त्या लौकिकं नाम प्रथमं व्यज्यते ततः ।

दिव्यं नाम तदन्तःस्थं समभिव्यज्यते क्रमात् ॥२३॥
रूपादिश्रवणाद् रूपं सशब्दं लौकिकं स्फुरेत् ।
दिव्यं रूपादिकं पश्चात्क्रमेण व्यज्यते हरेः ॥२४॥
अर्चादिदर्शनेऽप्येवमाद्यं लौकिकदर्शनम् ।
दिव्यस्य दर्शनं पश्चादभिव्यक्तिक्रमाद्भवेत् ॥२५॥
रासलीलाद्यनुकृतिरद्य त्वे या विधीयते ।
तत्रापि क्रम एषोऽवगन्तव्यो भक्तितत्परैः ॥२६॥
द्वापराद्यवतारेऽपि रूपं लौकिकमेव हि ।
वीक्षितं धार्त्तराष्ट्राद्यैस्तद्दिव्यं गोपिकादिभिः ॥२७॥
दिव्यस्यैवावृतिः काचिल्लौकिकत्वात्मिका भवेत् ।
तेन लौकिकमित्याहुर्न तु तद्द्वयमिष्यते ॥२८॥

नामोच्चारण से प्रथम लौकिक नाम व्यक्त होता है फिर उसके अन्तर्गत दिव्यनाम क्रमशः प्रकट होता है। रूपादि श्रवण में प्रथम लौकिक रूप तथा पश्चात् दिव्यरूप प्रकट होता है। अर्चादर्शन रासलीला दर्शनादि में भी यही क्रम है। द्वापर में भी दुर्योधनादि ने लौकिक रूप देखा दिव्य रूप गोपिका आदि ने। लौकिकत्व एक आवरण है। न कि लौकिक तथा दिव्य इस प्रकार नामादि के दो भेद हैं।

गुणेत्यसौ नामरूपगुणलीलादितत्परः ।
श्रवणं शाब्दबोधान्तशब्दाकर्णनमुच्यते ॥२९॥
एतदर्थं गुणपदं गृहीतं मुनिनात्र तु ।
नामोक्तौ कर्णसम्बन्धमात्रभ्रान्तिर्हि मा स्म भूत् ॥३०॥
न चार्थज्ञानहीनैरप्यजामिलमुखैर्हरेः ।

उच्चार्य नाम परमा गतिराप्तेति विश्रुतम् ॥३१॥
तत्र पापप्रहाणिर्हि नामोक्त्या विनिगद्यते ।
तथा चोक्तं भागवते सूतेनैव महात्मना ॥३२॥
❀ नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखहरणं तं नमामि हरिं परम् ❀ ॥३३॥
पापप्रणाशे सति च सत्संगादिवशाद्धरौ ।
भक्तिर्यथैव वाल्मीकेर्मूलरामायणादितः ॥३४॥
❀ सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ❀ ॥३५॥
इत्येवं तत्रतत्रैव पापहानिप्रयोजकम् ।
नामव्याहरणं प्रोक्तं गुणादिकथनं पुनः ॥३६॥
इदं हि पुंसस्तपसः स्विष्टसूक्तादिकस्य च ।
परोऽर्थ उत्तमश्लोकगुणानुकथनं हि यत् ॥३७॥
❀ शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हरिः ❀ ॥३८॥
❀ यत्र यत्र महीपाल वैष्णवी वर्त्तते कथा ।
तत्र तत्र हरिर्याति गौर्यथा सुतवत्सला ❀ ॥३९॥
❀ रागेणाकृष्यते चेतो गान्धर्वाभिमुखं यदि ।
मयि बुद्धिं समास्थाय गायेथा मम सत्कथाः ❀ ॥४०॥
❀ नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ❀ ॥४१॥

इत्येवं वैष्णवस्कान्दश्रीमद्भागवतादिषु ।
गुणादिकीर्त्तनं प्रोक्तमर्थाभिज्ञानकारणम् ॥४२॥

सूत्र में गुण पद से नाम रूप गुण लीला आदि सभी ग्राह्य हैं। अर्थ भी समझना चाहिये इस आशय से नामपद छोड़कर गुणपद रखा। यद्यपि अजामिलादि को अर्थ ज्ञान नहीं था तथापि उससे पाप नाश मात्र होगा। अतएव तत्र तत्र गुणलीला कथादि का भी श्रवण और कीर्त्तन बताया गया है।

वस्तुतो नाममात्रस्याप्यनूक्ता हरिरूपता ।
नाम्नैव चारितार्थ्यं स्यादिति नास्त्यत्रसंशयः ॥४३॥
तथापि ह्यर्थविज्ञानं क्षिप्रमावृतिभञ्जनम् ।
कुर्यादित्यर्थविज्ञानमावश्यकमिति स्थितिः ॥४४॥

वस्तुतः नाम भी हरिस्वरूप है। केवल नाम से भी चरितार्थता है। तथापि अर्थज्ञान होने पर आवरण भंग शीघ्र होगा। अतः अर्थज्ञान आवश्यक है इस आशय से सूत्र में गुणपद है।

अथ सूत्रत्रयव्याख्यां कुर्मो विविधरूपतः ।
विश्वतोमुखरूपत्वात्सूत्राणामिति लेशतः ॥४५॥
विषयैरावृते चित्ते न हरेः स्फुरणा भवेत् ।
सर्वथा विषयास्फूर्त्तिः संपाद्या तेन पूर्वतः ॥४६॥
न चासक्तिपरित्यागं विना सा संभवेदतः ।
आसक्तिलक्ष्मसङ्गस्य सर्वथा त्यागमाश्रयेत् ॥४७॥
महतापि प्रयत्नेन तद् द्वयं नैव सुक्रमम् ।
अतः सदैव भगवद्भजनं विदधीत हि ॥४८॥
दिव्या स्फूर्तिः स्वयंसिद्धा साधनं स्मरणं भवेत् ।

तच्च लोकेऽपि लीलादेः श्रवणात्कीर्त्तनादपि ॥४९॥
कुर्यान्मनसि वैकुण्ठगुणनामादिचिन्तनम् ।
लोकेऽपि कुर्याच्छ्रवणप्रभृतीत्यपिनोच्यते ॥५०॥

अब इन सूत्रों की भिन्न भिन्न रूपों से व्याख्या करते हैं। पूरे विषयों के बिना हटे भगवत्स्फूर्त्ति नहीं हो सकती। अतः विषय का हृदय से त्याग और तदर्थ संग-आसक्ति का त्याग करें। पर वह भगवत्स्मरण के बिना असंभव है। भगवत्स्फूर्त्ति अलग है स्मरण साधन है। उस स्मरण के लिए मन में तो गुण लीलादि का चिन्तन करें ही, साथ साथ लोक में भी श्रवण कीर्त्तन करें।

लौकिकौ सङ्गविषयौ त्याज्यौ तद्धेतुतावशात् ।
अर्थात्सत्सङ्गविषयौ ग्राह्यौ भक्तिस्ततो भवेत् ॥५१॥
अव्यावृत्ताच्च भजनाद्भक्तिं सेवादिलक्षणात् ।
लभते करुणासिन्धोः कारुण्यादेव मापतेः ॥५२॥
श्रवणं कीर्त्तनं चैव लोकेऽप्यादधतो बुधाः ।
श्रवणादिबलादेव लभन्ते भक्तिमुत्तमाम् ।५३॥

लौकिक संग और विषय छोड़ें। उसका कारण सद्विषय और सत्संग होने से अर्थात्—वे दोनों करें उससे भक्ति होगी। संवादि रूप भजन से हरि कृपा से भक्ति होगी। श्रवण कीर्त्तन करने से उसी के बल से भी भक्ति प्राप्त होगी।

सङ्गादित्यागतो ह्यव्यावृतं स्याद्भजनं ततः ।
लोकेऽपि श्रवणादि स्यात्ततो भक्तिर्भवेन्नृणाम् ॥५४॥

संगादि त्याग से सदा भजन होगा। तब प्रकट रूप से लोक में श्रवणादि होगा। तब भक्ति होगी।

अन्योन्याश्रयता क्वापि क्वापि चैषां स्वतन्त्रता ।
भक्तभेदेन सकलोऽप्यर्थोऽस्त्यत्र समञ्जसः ॥५५॥
शब्दार्थविषयेऽप्येवं भक्तभेदाद्विभिन्नता ।
संभवत्येव तत्सर्वं स्वयमूह्यं मनीषिभिः ॥५६॥

ॐ

इन त्रिसूत्रोक्त साधनों में कहीं अन्योन्याश्रयता है कहीं स्वतन्त्रता है। भक्त भेद से सभी उपपन्न हैं। और शब्दार्थ भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं। वह स्वयं ऊह्य है।

ॐ

* मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ३८॥ *

मुख्यतः तो महान पुरुषों की कृपा से या भगवत्कृपालेश से भक्ति प्राप्त होती है।

साधनेषु बहूक्तेषु स्वानुभूतिपथं गतम् ।
मुख्यत्वेनाधुना प्राह सूत्रेणानेन नारदः ॥१॥
* अपेतचापले बाले शुश्रूषणपरे मयि ।
चक्रुः कृपां महात्मान * इति व्यासं स्वयं जगौ ॥२॥
तेषामनुग्रहेणैव कथाः कृष्णस्य शृण्वतः ।
प्रियश्रवसि संजाता रुचिश्चास्खलिता मतिः ॥३॥

व्यासजी को अपने पूर्वजन्म की कथा कहते हुए महात्माओं की कृपा से ही भक्ति प्राप्ति नारदजी ने बतायी।

नोरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशति मतिर्यावद्वृणीत नो ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं नमतां हरिम् ॥४॥

रहूगणेज्यया नैतत्तपोनिर्वपणादिभिः ।
विना महत्पादरजोऽभिषेकमितरैरपि ॥५॥
इत्येवं व्यतिरेकेण तत्र तत्र दृढीकृता ।
महत्कृपाया भगवद्भक्तिसंप्राप्तिहेतुता ॥६॥

"नैषां मतिस्तावत्०" "रहूगणैतत्तपसा०" इत्यादि में विना महापुरुषों की कृपा भक्ति नहीं हो सकती बताया गया है ।

नारदस्य प्रसादेन प्रह्लादे शुभवासना ।
निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता ॥७॥
❀ अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य तत्क्षणात् ।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते ❀ ॥८॥
इति स्कान्दादिवचने साधनान्तरहीनता ।
नीचलुब्धकशब्दाभ्यां सूच्यतेऽथापि सद्गतः ॥९॥

नारद की कृपा से प्रह्लाद भक्त हुए । एक नीच लुब्धक की कथा स्कन्द पुराण में भी है जो नारदकृपा से भक्त हुआ ।

महतां दृश्यपि हरिर्मनस्यपि वचस्यपि ।
प्रत्यङ्गमपि च प्रेष्ठस्तिष्ठतीशः सदाश्रयः ॥१०॥
प्राह विष्णुपदीं श्रीमानत एव भगीरथः ।
मर्त्यलोकमहाघोरपापसंस्पर्शभीरुकाम् ॥११॥
❀ साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ❀ ॥१२॥

महान् पुरुषों की दृष्टि में मन में वाणी में और अंग अंग में हरि विराजमान है । मर्त्यलोक के पाप से गंगा डर रही थी तब

भगीरथ ने कहा सन्तों के स्पर्श से तुम्हारा पाप संग नष्ट होगा।

शापादिवचने तेषां कालरूपेण तिष्ठति।
अनुग्रहादिवचने भगवान् पूरुषात्मना ॥१३॥
* ऋषेर्भागवतमुख्यस्य सत्यं कर्त्तुं वचो हरिः।
जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ * ॥१४॥
इत्यादिषु सहस्रेषु वचनेषु स्पष्टमेव तत्।
तथा च तत्कृपाहेतो र्भक्तिर्हि सुगमायते ॥१५॥

महान् पुरुषों के शाप में काल रूप से और अनुग्रह में पुरुष रूप से भगवान् रहते हैं। उनके वचन को सत्य करने के लिये भगवान् को अवतार भी लेना पड़ता है।

यत्र ज्ञानं च भक्तिश्च विना सत्संगतिं भवेत्।
तत्रापि पूर्वजन्मीयः सा कल्प्येति बुधा जगुः ॥१६॥

इस जन्म में न देखा गया तो पूर्वजन्म में सत्संग अवश्य हुआ होगा।

क्वचित्पूर्वभवैः पुण्यै र्जातया कृपया हरेः।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसां सर्वक्लेशविनाशिनी ॥१७॥
यद्यप्यहैतुकदयासिन्धुरेव हरिः किल।
परं तदाभिमुख्यं हि पुण्यकर्मसमुद्भवम् ॥१८॥
वाकारोऽत्र त्वनास्थायां क्वाचित्कत्वावलोकनात्।
तथा च यत्न आस्थेयो महत्कारुण्यलब्धये ॥१९॥
अतएव महत्सङ्गप्रशंसाग्रे विशेषतः।
करिष्यते ततश्चास्था देवर्षेस्तत्र गम्यते ॥२०॥

एवकारोऽपि च महत्कृपयैवेति सूत्रगः ।
समर्थयति पूर्वोक्तमर्थमेव विवक्षितम् ॥२१॥

कभी पूर्व पुण्य से भगवत्कृपा होती है तो भी भक्ति होती है। परंतु नारदजी को महापुरुषों की कृपा में ही अधिक आस्था है। अतएव महत्कृपयैव यहां एवकार है। आगे भी महत्कृपा की विशेष प्रशंसा करेंगे।

यद्वावतारसमये भगवत्कृपया भवेत् ।
महत्सङ्गस्तदानीं हि भगवत्सङ्ग इष्यते ॥२२॥
※ वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ।
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ॥२३॥
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ।
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ॥२४॥
अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः ※ ।
इत्युक्तो भगवत्सङ्ग आचार्यैर्मधुसूदनैः ॥२५॥
अत्रैव पठितं स्पष्टं नोपासितमहत्तमाः ।
सत्सङ्गोदाहृतिस्तेन परोक्तात्र पराकृता ॥२६॥

अथवा अवतारकाल में साक्षात् भगवत्कृपा भी संभव है। वृषपर्वाबलि आदि का उदाहरण देकर भगवत्संग से भक्ति प्राप्त होने की बात भागवत में आयी है। भागवत श्लोक में मत्सङ्गात् की जगह सत्संगात् कोई पढते हैं। परन्तु 'नोपासितमहत्तमा' से विरोध पड़ेगा और मधुसूदन सरस्वती जी ने भी भगवत्संगोदाहरण में ही ये श्लोक दिखाये हैं।

महापुरुषरूपेण भगवत्करुणैव नः ।

सदोपतिष्ठते तस्मात्प्रयोज्ये पञ्चमो परे ॥२७॥
अयं भावो न दुःखं हि परदुःखकृतं हरौ।
नित्यानन्दस्वरूपेऽस्मिंस्तद्धानेच्छा कुतः कृपा ॥२८॥
महतां स्वप्नतुल्यं तु दुःखं संभाव्यते सताम्।
तद्दैन्यभावोच्छलितशक्त्या भक्त्या हरौ कृपा ॥२९॥
तादृक्सद्वाहना तादृक्सत्कृपावाहनाथवा।
भगवत्करुणान्येषामपि संक्रमते नृणाम् ॥३०॥
दशमे तत एवोक्तं भगवान् हि सदनुग्रहः।
सद्द्वारा सन्त एवाहो यस्यानुग्रह इत्यदः ॥३१॥
नन्वग्रे लभ्यतेऽयं तत्कृपयैवेति वक्ष्यते।
तथा च पौनरुक्त्यं स्यान्नैवं विषयभेदतः ॥३२॥
महत्सङ्गोऽपि भगवत्कृपये लभ्यते नरैः।
महत्कृपापि भगवत्कृपया लभ्यते नृभिः ॥३३॥

ॐ

अन्य विद्वान् यहां व्याख्या करते हैं—भगवत्कृपा से महत्कृपा और उससे भक्ति होती है ऐसा यहां अन्वय है। उनका भाव यह कि भगवान् आनन्दरूप है। उनमें परदुःखप्रयुक्त भी दुःख संभव नहीं है। अतः परदुःखप्रहाणेच्छारूपी दया भी कैसे संभव है। महापुरुषों को स्वप्न समान दुःख होता है। उससे जो दीनता होती है उससे भक्तिरूपी शक्ति चलायमान होती है तब भगवान में दया होती है। वह दया महापुरुष या महापुरुषों की कृपारूपी वाहन पर आरूढ होकर कृपापात्र तक पहुँचती है। इसीलिये दशमस्कन्ध में भगवान को सदनुग्रह बताया है। सत्पुरुषों द्वारा अनुग्रह करते हैं

या सत्पुरुष ही भगवदनुग्रह है यह वहां अर्थ है। आगे भगवत्कृपा से सत्संग प्राप्ति बतायी जायेगी। यहां पर महत्कृपा भगवत्कृपा प्राप्य बतायी अतः पौनरुक्त्य नहीं है।

ॐ

महतां करुणा नाम तत्सङ्गेनैव जायते।
इति तस्य विधानार्थं तत्प्रशंसाधुनोच्यते ॥१॥

महापुरुषों की कृपा उनके संग से ही होगी। अतः महत्संग का विधान करने के लिये उसकी प्रशंसा यह की जा रही है।

अथवा कृपयेत्युक्ते सङ्गोऽर्थादेव लभ्यते।
दयाविशिष्टः सङ्गोऽसौ सूत्रेणानूद्य शस्यते ॥२॥
दयाप्रयोजकः सङ्गः सति शिष्यगुणे भवेत्।
गुणसंपादनार्थं हि प्रशंसार्थवती मुनेः ॥३॥

अथवा कृपा संग बिना संभव नहीं अतः महत्संग अर्थतः प्राप्त है। उसका अनुवाद कर सूत्र में स्तुति की जा रही है। दया कारण संग शिष्य गुणों के बिना संभव नहीं है। अतः शिष्य गुण संपादन करें यह इस प्रशंसा का सूच्यार्थ है॥

* मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्।
अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ॥४॥
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनेसूयुरमोघवाक् ।
जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ॥५॥
उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः *।
इत्यादौ शिष्यसाद्गुण्यविधिरप्यर्थवास्दतः ॥६॥
अत एव हि देवर्षेः प्रसङ्गः सफलोऽभवत्।

ध्रुवादे र्न तु कंसादेः साद्गुण्यविरहादिति ॥७॥

'मदभिज्ञं गुरुं' इत्यादि श्लोकों में शिष्य के लिये आवश्यक अमानित्वादि गुण का विधान है। इनके होने से ही नारद जी का संग ध्रुवादि के लिये सफल हुआ कंसादि के लिये नहीं हुआ ॥

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥३९॥

महान् पुरुषों का संग दुर्लभ अगम्य और अमोघ है ॥

* मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः * ॥८॥

* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः * ॥९॥

इत्येवं भगवानाह दुर्लभत्वं महात्मनाम् ।
अत्यन्तविरलत्वं हि दुर्लभत्वमिहोदितम् ॥१०॥

हजारों लाखों में प्रयत्नशील सिद्ध होकर कोई एक मुझे जान पाता है। और बहुत जन्मों के बाद वैसा ज्ञानी मेरी शरण में पहुंचाता है इस प्रकार अत्यन्त विरलतारूपी दुर्लभता महापुरुषों की बतायी है।

* दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् * ॥११॥

इत्युक्तं दर्शनं तेषां महतामतिदुर्लभम् ।
असंपादितपुण्यौघैस्तत्सामीप्याप्रसक्तितः ॥१२॥

सन्त दुर्लभ है–थोड़े हैं उनका दर्शन भी अति दुर्लभ है।

चरन्ति पुण्यतीर्थेषु सन्तः प्रायो मनस्विनः ।
शास्ति शास्त्रं ततो लोकान्पुण्यतीर्थनिषेवणम् ॥१३॥

तीर्थं गतैः कदाचित्तु लभ्यते भक्तदर्शनम् ।
अन्यत्र त्वतिदौर्लभ्यमिति शास्त्रकृतां मतम् ॥१४॥

तीर्थों में ही कदाचित वे मिल सकते हैं ।

संदृष्टानां च महतां सङ्गः परम दुर्लभः ।
इतस्ततश्चरन्त्येते निरपेक्षा निराशिषः ॥१५॥
भवापवर्गो सति हि भ्रमतः सत्समागमः ।
इति सत्सङ्गमे हेतुं भवत्यागं जगाद यत् ॥१६॥
अनुग्रहायेह कृष्णाद्विमुखस्य जनस्य ते ।
चरन्ति किन्तु तत्सङ्गः स्वायोग्यत्वान्न लभ्यते ॥१७॥

महात्माओं का दर्शन हो भी जाय फिर भी संग तो परम दुर्लभ है। उसके लिये संसार त्याग कारण 'भवापवर्गो भ्रमतः' इत्यादि श्लोक में कहा है। यद्यपि 'जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य' इत्यादि में भगवद्विमुखों के उद्धारार्थ ही सन्त विचरते हैं तथापि स्वयोग्यता भी तो अपेक्षित है।

अत एवात्र दैवादित्युक्तं वैमुख्यकारणम् ।
सर्वथाधर्मशीलो हि तेन स्पष्टं निवारितः ॥१८॥

इसीलिये जनस्य कृष्णाद्विमुखस्य दैवात् यहां दैवात् लिखा। दैवयोगस्य अधर्म शीलादि हुआ तो सन्त उनका उद्धार करते हैं ॥

तथा दुरवगम्यत्वात् सङ्गे सत्यपि किं भवेत् ।
श्रद्धादिविरहेणैव जना नो यान्ति तत्फलम् ॥१९॥
लोकपूजास्मयादिभ्यः सततं दूरचारिणः ।
गूढाश्चरन्ति धन्यास्ते महान्तो मूढवद्भुवि ॥२०॥

* त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगेऽमृतभाषणः ।
न कर्त्ता नेहसे किंचिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् * ॥२१॥
इत्येवमवधूतं हि दत्तात्रेयं महामुनिम् ।
ब्रूते विदेहो नृपतिस्ततस्तदवगम्यते ॥२२॥
अलक्ष्यलिङ्गं व्यामूढै र्महान्तं गूढवर्चसम् ।
अपश्यन् देवरातश्च मुनयश्च शुकं मुनिम् ॥२३॥
* क्वचिच्छिष्टाः क्वचिद्भ्रष्टाः क्वचिद्भूतपिशाचवत् ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले * ॥२४॥
इत्यादिदर्शनाच्चापि गम्यतेऽगम्यता सताम् ।
जातोऽपि तेन सत्सङ्गो न पूर्णफलदो भवेत् ॥२५॥

सन्त संग होने पर भी सन्त संग हुआ यह पहचान नहीं हो पाती। क्योंकि सन्त लोग दत्तात्रेय शुकदेव आदि के समान गूढ होकर विचरते हैं। फलतः उनमें श्रद्धा आदि न होने से उसका पूरा फल नहीं प्राप्त कर पाते ॥

अमोघो महतो सङ्गो दर्शनस्पर्शनाद्यपि ।
महान्तमर्थं सन्तस्ते साधयन्ति स्वसङ्गिनाम् ॥२६॥
* नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः * ॥२७॥
* यत्र रागादिरहिता वासुदेवपरायणाः ।
तत्र संनिहितो विष्णुर्नृपते नात्र संशयः * ॥२८॥
* भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्म सचिवाः साधवो दीनवत्सलाः * ॥२९॥

*साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृपात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोःसवितुर्यथा * ॥३०॥
*अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघ ।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गःशेवधिर्नृणाम् * ॥३१॥
*न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
नस्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा ॥३२॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् * ॥३३॥
*मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः * ॥३४॥
*प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषुकृतो मोक्षद्वारमपावृतम् * ॥३५॥
मत्प्रसङ्गात्कथा मे स्युः श्रद्धाभक्ती रतिस्ततः ।
विरक्तिः परमं ज्ञानमवरुन्धे ततश्चमाम् ॥३६॥
*यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा * ॥३७॥
*तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः * ॥३८॥
वचांस्येवं प्रकाराणि शतशश्च सहस्रशः ।
अविश्वकुर्महत्सङ्गमहिमाऽमोघरूपताम् ॥३९॥

ॐ

महान् पुरुषों का संग अमोघ (अव्यर्थ) है। तीर्थ जल नहीं संत है क्योंकि सन्त सद्यः फलप्रद हैं। जहां सन्त हैं वहां भगवान् अवश्य रहते हैं और वे बड़े दीनवत्सल होते हैं अतएव उनके दर्शन से भी बन्धन कटता है आधा क्षण सत्संग भी इसलिये महान् निधि है। योगादि से नहीं कि सत्संग से भगवान् वशीभूत होते हैं। 'सतां प्रसङ्गान् मम' इत्यादि तीन श्लोकों में कहा है कि सत्संग से भगवत्कथा होगी और श्रद्धा भक्ति आदि। स्वर्गादि तो सत्संग के लेश के बराबर भी नहीं है। इत्यादि वचनों में सत्संग महिमा स्पष्ट है।

ॐ

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥४०॥

भगवत्कृपा से ही सत्संग भी मिलता है।

महत्सङ्गोऽपि भगवत्कृपयैवैष लभ्यते।
पूर्वसंपादितैः पुण्यैर्जायते भगवत्कृपा ॥१॥
* त्वत्कीर्तितीर्थयोरन्तर्बहिः स्नानहतेनसाम्।
भूतेषु सानुक्रोशानां सङ्गो हि त्वदनुग्रहः * ॥२॥
* तस्यैकदानुतु नृपतेरङ्गिरा भगवानृषिः।
लोकाननुचरन्नेतानुपागच्छद्यदृच्छया * ॥३॥
यदृच्छयेति भगवत्कृपाप्रेरणयेत्यदः।
स्वैरेणेति परे प्राहुरन्ये स्वकृपयेति च ॥४॥

महत्संग भगवत्कृपा से होता है। भगवत्कृपा पूर्वपुण्यों से होती है। 'अथानघाङ्घ्रेस्तवकीर्त्तितीर्थयोः' इत्यादि वचन इसमें प्रमाण है।

ननु साक्षाद्भगवतः कृपया भक्तिलाभतः ।
व्यर्थो मध्ये महत्सङ्गलाभोऽयमिति चेन्नतत् ॥५॥
कृपा विभिन्नविषया भिन्नकार्यप्रयोजिका ।
भक्तिं काचिन्महत्सङ्गं काचिच्चापि प्रयोजयेत् ॥६॥
भगवत्कृपया साक्षाद् भक्तिः क्वाप्येव जायते ।
प्रायस्तु महतां सङ्गद्वारेणैनां प्रयोजयेत् ॥७॥

यदि हरिकृपा से सत्संग प्राप्त होता है और इससे भक्ति होती है तो हरिकृपा से भक्ति ही प्राप्त होती है क्यों न माना जाय ? इसका समाधान यह कि कृपा भिन्न विषयक होने से ऐसी शंका नहीं उठती ।

कश्चिच्छ्रेष्ठी कृपालुः सन् भूरीणि तु फलान्यदात् ।
अपरस्तु कृपालुः सन् वाटिकामेव संददौ ॥८॥
भक्तिः फलोपमा बोध्या सत्सङ्गो वाटिकोपमः ।
अनन्तकालपर्यन्तफलोद्भावनसक्षमः ॥९॥
भक्तिर्यद्यपि नित्यं हि वर्धते न तु क्षिश्यते ।
तथापि मन्दवृद्धिः स्यान्महत्सङ्गं विना खलु ॥१०॥

कोई दयालु सेठ याचक को फल देता है दूसरा बगीचा ही दे डालता है । भक्ति फल समान है महत्संग बगीचा समान है । अर्थात् फल देता ही रहेगा । यद्यपि भगवान ने भक्ति दी तो वह बढती ही रहेगी घटेगी नहीं तथापि महत्संग न हो तो धीरे धीरे बढ़ेगी। महत्संग से यकायक बढ़ने लगती है यह अनुभवसिद्ध है ।

अन्ये तत्कृपयैवेति शब्दं व्याचख्युरन्यथा ।
महतामेव कृपया तेषां सङ्गोऽपि लभ्यते ॥११॥

तच्चिन्त्यमर्थतः प्राप्तेरुक्तिवैयर्थ्यमापतेत् ।
निरपेक्षेषु मुनिषु किं भवेत्कारणान्तरम् ॥१२॥
किं च तत्कृपयैवेति कथने किं प्रयोजनम् ।
प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा निरपेक्षत्वमेव वा ॥१३॥
न च तत्करुणावाप्त्यै तत्सेवादौ प्रवर्त्तते ।
यतः सङ्गोत्तरं सेवेत्यन्योन्याश्रयता भवेत् ॥१४॥
निवृत्त्यादौ पुनर्व्यर्थकालक्षेपोऽफलो भवेत् ।
तस्मान्नास्त्युक्तिसार्थक्यं कथंचिदपि संभवेत् ॥१५॥
भगवत्कृपया सन्तो लभ्यन्त इति गीः पुनः ।
तद्धेतुपुण्यानुष्ठाने प्रयोजयति मानवम् ॥१६॥
भवन्मते स्वकृपया सन्तो लभ्यन्त इत्यतः ।
तन्मार्गणे प्रवृत्तोऽपि निवर्त्तेताफलत्वतः ॥१७॥
पुण्यकर्मचयैरीशकृपावत्सत्कृपापि च ।
भवेददृष्टद्वारेणेत्यदोऽप्रामाणिकं मतम् ॥१८॥

कुछ लोगों की यहां व्याख्या है कि महत्कृपा से ही महत्संग मिलता है। परन्तु इस मत में सूत्र वैयर्थ्य होगा। वे स्वयं कृपा करके ना आवे तो क्या बलात्कार से आयेंगे ? दूसरी बात यह कि संतों की खोज करना भी फिर बन्द हो जायेगा। क्योंकि वे खोजने से मिल ही नहीं सकते। भगवत्कृपा से सन्त मिलते हैं कहने पर भगवत्कृपार्थ सत्कर्म करने लगेंगे। अतः प्रवृत्त्यर्थ सूत्र सार्थक है। सत्कर्म से भगवत्कृपा होती है जैसे वैसे संतकृपा भी अदृष्ट द्वारा होगी यह कहना नहीं बनेगा। क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

अन्तरा हरिकारुण्यं फलं जैमिनिरब्रवीत् ।
तद्द्वारा कर्मसाफल्यं भगवान् बादरायणः ॥१९॥

सत्कर्मों का कोई भी फल हो वह हरिकृपा द्वारा ही होगा यह बादरायणमत सिद्धान्त है। अदृष्ट के द्वारा कोई भी फल होगा चाहे वह स्वर्ग हो चाहे महत्कृपा यह जैमिनि मत है।

* प्रथमं महतां सङ्गस्तद्दयापात्रता ततः * ।
इत्याचार्यैरपि फलं दया सङ्गस्य दर्शिता ॥२०॥

बल्कि महत्संग का फल उनकी दया है यही आचार्यों का मत है।

अङ्गिरःप्रभृतिर्यत्र दयया स्वयमागतः ।
तत्र प्राक् सङ्गतः सा स्याद्धरिकारुण्यतोऽथवा ॥२१॥

ॐ

चित्र केतु के यहां दया से स्वयं अंगिरा आये तो वह पहले संग जरूर किया होगा। उसी से उनमें दया आयी। अन्यथा विना जान पहचान अन्यत्र ही क्यों नहीं गये। कथंचिद् यदृच्छया आगमन हुआ कहें तो उस दया में फिर भगवत्कृपा ही कारण मानना होगा।

ॐ

दुर्गमत्वादिकं कस्मान्महत्सङ्गस्य भाष्यते ।
कथं च तत्कृपया हरौ भक्तिः प्रजायते ॥१॥

महत्संग क्यों दुर्गम है और उससे भक्ति क्यों होती है ?

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥४१॥

भगवान् में और भगवद्भक्त में भेद नहीं है।

अत्राभिदध्महे तस्मिंस्तज्जने न भिदा मनाक् ।
दुर्गमत्वादि तस्मात्स्यात्तत्कृपा च गरीयसी ॥२॥

उत्तर यह कि भगवान् और भक्त में भेद न होने से वे दुर्गम होते हैं और उनकी कृपा महती होती है।

परे त्वाहुर्महत्सेवाकरणेऽनन्यता कथम्।
कथं चामोघता तस्या इत्यस्यापीदमुत्तरम् ॥३॥

भगवान में अनन्यता चाहिये तब महापुरुषों की भी सेवा कैसी और उसकी अमोघता कैसी इसका भी यह उत्तर है।

ननु सर्वमिदं ब्रह्म न भेदः क्वापि विद्यते।
तथा च तज्जने भेदाभावोक्तिर्निष्प्रयोजना ॥४॥
* मरुत्सागरसंयोगे तरङ्गकणिका यथा।
जायन्ते तत्स्वरूपाश्च तदुपाधिसमन्विताः ॥५॥
आश्लेषादुभयोस्तद्वदात्मनश्च सहस्रशः।
संजाताः सर्वतो ब्रह्मन् मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपतः ॥ * ॥६॥
इत्यादिवचनेष्वेतत्स्पष्टीकृतमवेद्यते।
अतस्य खलु तद्भावो न च क्वापि विलोकितः ॥७॥
नैवमन्येष्वहंकारो विद्यते भेदकारणम्।
औपाधिकः स्थितो भेदस्तस्मादेतत्समञ्जसम् ॥८॥
न च प्रस्तरखण्डादावहंकाराद्यभावतः।
औपाधिकोऽपि नो भेद इति किं नाभिधीयते ॥९॥
मायाच्छन्नवपुष्ट्वेन भेदस्तत्रापि विद्यते।
अपेतमायावरणः सर्वं ब्रह्मैव वीक्षते ॥१०॥
मायावरणभङ्गेन सर्वशक्तिसमन्वयात्।
तस्मिंश्च तज्जने चैव भेदो नास्तीत्युदीर्यते ॥११॥

*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते * ॥१२॥
नाहं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधियाहतम्।
तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवन्तमितोऽस्म्यहम् ॥१३॥
इत्यादिवचनेऽप्राप्तिं माययाज्ञानमेव च।
अहंधीरूपया प्राह ततोऽप्यस्या हि सा बुधैः ॥१४॥

यद्यपि मरुत्सागर संयोगे इत्यादि वचन से सभी ब्रह्म स्वरूप हैं। अतः भक्तों को भगवान् से अभिन्न कहना निरुपयोगी है तथापि दूसरों में अहंकार होने से औपाधिक भेद रहता है। मायावरण के कारण पत्थर आदि में ब्रह्मदर्शन नहीं होता यही दैवी ह्येषा इत्यादि में भी बताया है।

अथवा महतां सेवा कार्या श्रेयोऽर्थिभिर्नृभिः।
एतद्विधातुमधुना तत्प्रशंसा विधीयते ॥१५॥
*शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथा रुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् * ॥१६॥
*आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि तदीयानां समर्चनम् * ॥१७॥
*येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः * ॥१८॥
*ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः* ॥१९॥
आदिपामादिवचनमेवं सत्सेवनं परम्।

निरूपयति　तेनात्र　महत्सेवा　विधित्स्यते ॥२०॥

अथवा सद् पुरुषों की सेवा करो यह विधान करने के लिये उनकी भगवदभिन्नता प्रशंसारूप से कही जा रही है। भागवत, आदि-पुराण पद्मपुराणादि के शुश्रूषोः इत्यादि वचन महत्सेवा की महिमा बता रहे हैं।

अत्रेदं　चिन्त्यते　साधु　र्महदादिपदैरिह ।
कीदृशः　समभिप्रेतो　नारदेन　महर्षिणा ॥२१॥
अत्र　ब्रूमो　भागवते　कपिलेनोक्तलक्षणः ।
साधुरेवात्र　देवर्षेरपि　सूत्रविवक्षितः ॥२२॥
* तितिक्षवः　कारुणिकाः　सुहृदः　सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः　शान्ताः　साधवः　साधुभूषणाः ॥२३॥
मय्यनन्येन　भावेन　भक्तिं　कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते　त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२४॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः　शृण्वन्ति　कथयन्ति च ।
तपन्ति　विविधांस्तापानैकात्म्यगतचेतसः ॥२५॥
त एते　साधवः　साध्वि　सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ　ते　प्रार्थ्यः　सङ्गदोषहरा हिते * ॥२६॥
एतेनात्र　विरक्तो वा　गृहस्थो　वा न चाग्रहः ।
भगवत्तत्परः　साधुरित्यपास्तं　वचो　बुधाम् ॥२७॥
साधुभूषण,　संन्यस्तकर्मस्वजनबान्धवाः ।
इत्यादिलक्षणवचः　स्वारस्येन　विरोधतः ॥२८॥
सर्वात्मना त्यजेत्सङ्गं　मिथुनव्रतिनामिति ।

मुमुक्षुं सौभरिः प्राह यो मुमुक्षुरिहोदितः ॥२६॥
न चानासक्तिमात्रेण साधुत्वमिति सांप्रतम् ।
निजपाते परासक्तेरप्रयोजकता यतः ॥३०॥
नैव वारिचरासक्त्या प्रच्युतं सौभरेस्तपः ।
किं तु तेषां प्रसङ्गेनेत्येतत्तद्वचसि स्फुटम् ॥३१॥
एवं वसन् गृहे कालं विरक्तो न्यासमास्थितः ।
वनं जगामेति पुनः संन्यासस्तस्य कीर्त्यते ॥३२॥
व्याजहारापि च परिव्राजकाभरणं स्वयम् ।
नारदं नारदपरिव्राजकोपनिषद्यपि ॥३३॥
अत एव च लोकेऽपि साधुसन्तादिशब्दतः ।
विरक्ता एव गृह्यन्ते रुढ्या न तु गृहस्थिताः ॥३४॥
ये पुनर्गृहिणो भक्ता अनासक्ता मनोषिणः ।
तेषां सङ्गोऽपि बहुधा भक्त्यर्थमुपयुज्यते ॥३५॥
अम्बरीषप्रभृतयो महान्तो गृहिणोऽभवन् ।
विरक्तादपि दुर्वासः प्रभृतेरधिकाः पुरा ॥३६॥
तथापि वेदसंन्यासप्रभृतिं मुहुरत्र हि ।
देवर्षिणा वर्णयता महान्तो न्यासिनो मताः ॥३७॥
तथा च श्रुतिरप्याह न्यास एवात्यरेचयत् ।
संसारासक्तिसंत्यागे न्यासिनः प्रेरणाप्रदाः ॥३८॥
तथा चात्रैष निष्कर्षः महान्तो न्यासिनोऽमलाः ।
परप्रारब्धगडितगृहावस्थाश्च के च न ॥३९॥

तिष्ठन्तोऽपि गृहे ये तु दूयन्ते गृहबन्धनात् ।
पञ्चदश्यामिदं स्पष्टं विद्यारण्यैरवर्ण्यत ॥४०॥
ननु भो भगवत्सृष्टं भोगं भगवदिच्छया ।
भुञ्जानस्य व्यथा कस्मादिति चेन्नासदुत्तरात् ॥४१॥
एवं भगवदिच्छेति शास्त्रादेर्व्यर्थता भवेत् ।
भगवद्भावशून्यत्वमपीच्छैव हरेर्यतः ॥४२॥
विद्यारण्यमुनिप्रोक्तमेव तेनात्र सांप्रतम् ।
अन्यथा सर्वशास्त्राणां व्याकुलत्वं प्रसज्यते ॥४३॥

इस शास्त्र में महान् साधु आदि पद से विरक्त तितिक्षु संन्यासी महात्मा ही विवक्षितः। भागवत में कपिल ने इनका लक्षण कहा है। गृहस्थ भक्त वे ही महान् हैं जो छोड़ना चाहते हैं पर प्रबल प्रारब्ध उन्हें रोकता है। अतएव सौभरि सामान्य रूप से मिथुन-चारियों का संग छोड़ने बताया। कुछ कुतर्कियों का कहना है कि भगवदिच्छा से प्राप्त भोगों को छोड़ने का क्या सवाल है। परंतु भगवदिच्छा से कुकर्म सुकर्म सभी होते हैं तो शास्त्रों की भी क्या जरूरत है। भक्ति नहीं हुई तो वह भी भगवदिच्छा ही से हुई। किंतु इस प्रकार तर्क करना तो पाखंडमात्र है।

महान्तो द्विविधा प्रोक्ताः ज्ञानिभक्तप्रभेदतः ।
ज्ञानभक्तिप्रधानत्वप्रयुक्तेयं भवेद्भिदा ॥४४॥
महान्तः समचित्ताश्च प्रशान्तास्ते विमन्यवः ।
सुहृदः साधवोऽत्रोक्ता महान्तो ज्ञानिनोऽमलाः ॥४५॥
देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितमेव वा ।
ज्ञातस्वरूपो नो पश्येदत्र च ज्ञानिनो मताः ॥४६॥

योवा मयीशे विहितसौहृदार्थास्तथा जने ।
विषयान्धेऽप्रीतयश्चत्यत्र भक्ता निदर्शिताः ॥४७॥
पार्षदा अकषायाश्च विमूर्च्छितकषायकाः ।
भक्तानां महतामाहुस्त्रैविध्यं पण्डिताः परे ॥४८॥
नारदाद्यास्तु प्रथमा द्वितीयास्तु शुकादयः ।
तृतीयाः प्रायशोऽन्येस्युरित्युदाजह्रुरप्यमून् ॥४९॥

ॐ

दो प्रकार के महान् होते हैं। ज्ञान प्रधान और भक्ति प्रधान। महान्तस्ते समचित्ता इत्यादि भागवत श्लोकों में इनका वर्णन है। पार्षद, कषायरहित और मूर्छितकषाय इस प्रकार तीन भेद और बताये हैं। नारदादि पार्षद हैं शुकदेवादि कषाय रहित एवं अन्य तृतीय कोटि के हैं।

ॐ

पूर्वं साधनरूपेण सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ।
इत्युक्तामधुना भक्तिं वक्ति साध्यात्मिकामृषिः ॥१॥
स्वयं फलस्वरूपत्वं यद्यप्यूचे पुरा मुनिः ।
तथापि साधनादानविधानार्थमिदं वचः ॥२॥
किं च शिष्टाः प्रवर्त्तन्ते ज्ञानादावपि भूरिशः ।
न च ते सन्ति विभ्रान्ताः साध्यं ज्ञानादि चाप्यतः ॥३॥
इत्याशङ्कां परिहरन् भक्तिमात्रात्कृतार्थताम् ।
निर्धारयितुमप्येतद् ब्रवीति करुणानिधिः ॥४॥

सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः से साधन बताया उसी को अब साध्य बताने

जा रहे हैं। यद्यपि स्वयं फलरूप कहने से ही यह अर्थ भी प्राप्त है तथापि यत्नपूर्वक साधन ग्रहण करने के लिये यह उक्ति है। दूसरी बात यह भी कि शिष्ट लोग बहुत से ज्ञानादि में भी प्रवृत्त होते देखे जाते हैं और उन्हें भ्रान्त कहना भी उचित नहीं है अतः ज्ञानादि भी साध्य है इस आशंका का परिहार करते हुए भक्ति से ही कृतार्थता निर्धारित करने के लिये जीव दया परवश होकर यह कहते हैं।

* तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥४२॥ *

भक्ति ही सिद्ध करो भक्ति ही सिद्ध करो॥

भक्त्या वा साध्यतां भक्तिः सत्सङ्गादिभिरेव वा।
सर्वथा हरिभक्तिर्हि साध्यतां साध्यतां बुधाः ॥५॥
शिष्टाः कामं प्रवर्त्तन्तां ज्ञानादौ किं ततस्तु वः।
सामर्थ्याभिमतिं त्यक्त्वा हरिभक्तिर्हि साध्यताम् ॥६॥
वाग्वैखरी शब्द झरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥७॥
शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
तस्माद्भुक्तिस्पृहां त्यक्त्वा भक्तिरेकैव साध्यताम् ॥८॥
भक्तौ समुपजातायां शास्त्रीया धीस्तु निष्फला।
भक्तावनुपजातायां शास्त्रीया धीस्तु निष्फला ॥९॥
हरिभक्तावुपेतायां सर्वं कर्माप्रयोजनम्।
हरिभक्तावपेतायां सर्वं कर्माऽप्रयोजनम् ॥१०॥
हरिभक्तौ हि सिद्धायां सांख्ययोगादयो वृथा।
हरिभक्तावसिद्धायां सांयोगादयो वृथा ॥११॥

अनन्यसाध्यतालब्धेरेवकारोऽत्र योजितः ।
परमादरहेतोश्च द्विरुक्ति र्मुनिना कृता ॥१२॥

भक्ति हो सत्संग हो किसी से भी भक्ति ही प्राप्त करो। सामर्थ्य वाले शिष्ट ज्ञानादि में प्रवृत्त हो। तुम अपने को क्यों समर्थ समझने लगे ? भुक्ति के लिये ही ज्ञानादि पांडित्य है। भक्ति हुई तो शास्त्राध्ययन व्यर्थ है, न हुई तो भी व्यर्थ है। यही कर्म योगादि की भी स्थिति है। अन्य साध्य व्यावृत्त्यर्थं सूत्र में एवकार है परमादरार्थ द्विरुक्ति है।

केचित्तु तत्पदेनात्र महत्सङ्गो विवक्षितः ।
भगवद्भक्तिहेतुत्वान्महत्सङ्गो हि साध्यताम् ॥१३॥
तच्चिन्त्यं पुरुषार्थो हि साध्नोतेः कर्म दृश्यते ।
साधने साधिकर्मत्वं गौणमेवोररीकृतम् ॥१४॥
मुख्यार्थसंभवे कस्माद्गौणार्थे वृत्तिरिष्यताम् ।
व्याचष्टे साधनत्वं हि भवान् सत्संगतेः खलु ॥१५॥

कुछ लोग यहां सत्संग सिद्ध करो ऐसी व्याख्या करते हैं क्योंकि सत्संग भक्तिसाधन है। किन्तु साधन को सिद्ध करो ऐसा प्रयोग बहुत कम देखने में आता है।

पुण्यकर्मसमुत्पन्नहरिकारुण्यमार्गतः ।
महत्कृपैव संसाध्येत्यपरे व्याचचक्षिरे ॥१६॥

ॐ

पुण्य कर्म से हरिकृपा और उससे महत्कृपा होती है उस महत्कृपा को सिद्ध करो (अर्थात् पुण्यकर्मों में लगे रहो) यह भी यहां अर्थ करते हैं।

ॐ

सामान्यरूपतः पूर्वं सङ्गत्यागो महर्षिणा ।
साधनत्वेन संप्रोक्तो विशेषस्त्वधुनोच्यते ॥१॥

"तत्तुविषयत्यागात्सङ्गत्यगाच्च" यह सामान्य कथन है। यहां संग त्याग का विशेष कथन हो रहा है ॥

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥४३॥

दुःसंग का तो सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां वापि सङ्ग आपदि संभवेत् ।
नैव दुष्कृतिनां सङ्ग आपद्यप्यनुमन्यते ॥२॥
शय्यासनाटनालापभोजनाचरणादिषु ।
सर्वत्र सर्वदा सङ्गो दुष्कृतां विनिषिध्यते ॥३॥
*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधयाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥४॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् * ॥५॥
इत्यादिभिर्दुष्कृतिनां पातो भगवतोदितः ।
तत्सङ्गदोषदुष्टानामप्येवं पतनं भवेत् ॥६॥

स्त्री एवं स्त्रैणों का आपत्ति आदि में भले संग हो परन्तु पापियों का संग किसी हालत में नहीं करना चाहिये। बैठते उठते कभी भी उनका संग न हो। क्योंकि भगवान् ने दुष्कृतियों को आसुरी संपत्ति वाले बताया है। वे नरक में ही पड़ते हैं अतः उनके संग से भी पतन संभव है।

अथ सङ्गपदेनात्रासक्तिः सम्बन्ध एव वा ।
विवक्षितो नारदेनेत्येवं भवति संशयः ॥७॥
महत्सङ्गस्य पूर्वोक्तेर्दुष्टसङ्गः प्रतीयते ।
कामक्रोधादिहेतुत्वादासक्तिश्चात्र गम्यते ॥८॥
* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते * ।
इत्यस्य प्रत्यभिज्ञानादिति चेदुभयं मतम् ॥९॥

पूर्वसूत्रोक्त महत्संगपद से सम्बन्धार्थ ही यहां संगपद मालूम होता है और उत्तरसूत्र में ध्यायतो विषयान् पुसः सङ्गः इस गीता की प्रत्यभिज्ञा होने से वहां बतायी आसक्ति अर्थ प्रतीत होता है तो क्या यहां विवक्षित है यह प्रश्न है उत्तर है कि दोनों ही यहां विवक्षित है ।

कर्णाभ्यां दुष्कृतां वार्ता न श्रोतव्या मनीषिभिः ।
दृग्भ्यां न दर्शनं कार्यं स्पर्शो नैव करादिना ॥१०॥
न तैः संभाषणं कार्यं तदुदन्तो न भण्यताम् ।
अप्यमी आत्मजा हि स्युः गुरुपित्रादयोऽपि वा ॥११॥
दूरादपि च न स्नेहस्तेषु कार्यः कदाचन ।
इत्येवं सर्वथा त्याज्यो दुःसङ्गो भक्तिमिच्छता ॥१२॥
आसक्तिः सर्वथा त्याज्या यद्यप्येव मनीषिभः ।
प्रेमासक्त्योर्विभेदस्तु प्रागेव विनिरूपितः ॥१३॥
तथापि सत्पुरुषगा सदर्थविषयादि च ।
न सा स्याद्बह्वनर्थाय सद्भिरुद्धारणान्नृणाम् ॥१४॥
दुष्कृत्सु सर्वथा पुम्भिस्तथा दुर्विषयेष्वपि ।

आसक्तिः परिहातव्येत्यभिसन्धिर्महामुनेः ॥१५॥

कान से दुष्टों की बात न सुनो, नेत्र से दर्शन न करो इत्यादि रीति सर्व सम्बन्ध त्याग और सर्वथा आसक्ति त्याग यहां सूत्रकार को अभिमत है।

अथात्र दुष्पदद्योत्या दूषिताः के विवक्षिताः।
अत्र केचित्समाचख्युर्भक्तिं मन्यांस्तरास्विनः ॥१६॥
अपि चेत्स्युः सदाचारा योगिनस्तत्त्ववेदिनः।
तत्सङ्गोऽप्येव दुःसङ्गो भक्तिमार्गविरोधने ॥१७॥
तत्तुच्छं परसूत्रोक्तहेतुबाधप्रसङ्गतः।
कामक्रोधादिहेतुत्वं दुःसङ्गस्यानुवक्ष्यते ॥१८॥
योगिनां ज्ञानिनां सङ्गे कथं तद्घटतां वद।
दर्शनादिकमप्येषां न कार्यमिति साहसम् ॥१९॥
नन्वभक्ता विवादं ते कुर्वीरन्निति चेन्नतत्।
मा विवादं प्रकार्षीस्त्वं, तस्याग्रे विनिषेधतः ॥२०॥
यावान् भक्तिविरोध्यंशस्तावांस्त्याज्यो न संशयः।
सर्वथा त्याज्य इत्येतन्न तेषु घटते वचः ॥२१॥
अनिवेद्यं न भुञ्जीत ह्यवास्यं न वसीत च।
नानर्पणीयं गृह्णीयाद् हरेरित्यपरे जगुः ॥२२॥
सोऽप्युत्तरविरोधित्वाद्दर्थो नैव समञ्जसः।
अनिवेद्यं च गुर्वादेरुच्छिष्टं किंन भुज्यते ॥२३॥
अत्राहुरग्रचसूत्रोक्ता दोषाः कामादयो हि ये।
संभाव्यन्ते यतस्ते हि दुष्पदद्योतिता इह ॥२४॥

महापातकिनः केचिन्नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
शास्त्रेषु तत्रतत्रोक्ता नोच्यन्तेऽत्र विशेषतः ।।२५।।

ॐ

दुःसंग में 'दुः' से सूचित कौन इस विषय में कुछ लोगों का मत है कि योगी ज्ञानी आदि सभी भक्त्यवरोधक दुष् का अर्थ है। और अनिवेद्य, अतर्पणीयादि भी दुष् का अर्थ है। परंतु यह व्याख्या समीचीन नहीं है। कारण उत्तर सूत्र में कामक्रोधा द कारण बताया है। योगी ज्ञानी आदि का संग कामक्रोध हेतु कहना ईर्ष्यामात्र है। गुरूच्छिष्टादि अनिवेद्य का भी ग्रहण होता है। अतः कामक्रोधादि कारणरूप जो भी संग हो वही यहां दुःसंग का अर्थ है। महापातकी नास्तिक वेदनिन्दकादि का यहां विशेष नामोल्लेख नहीं करना चाहते शास्त्रों में सब का वर्णन है। आवश्यक हो तो वही देख सकते हैं।

ॐ

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाश-कारणत्वात् ।।४४।।

क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश के क्रम से सर्वनाश का कारण है।

* ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।१।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति * ।।२।।
इत्येवं भगवत्प्रोक्तं हेतुत्वेनाभिधीयते ।
दुःसङ्गपरिहेयत्वे कामेत्यादि महर्षिणा ।।३।।

इसी अर्थ के ध्यायतो विषयान् पुंसः इत्यादि गीता श्लोक हैं।

निहन्यमानः केनापि कामः क्रोधाय कल्पते।
क्रोधः प्रज्वलनप्रख्यो दहन् वैचित्यतां नयेत् ॥४॥
स्मृतिशक्तिरतो नश्येत् संस्कारदहनात्पुनः।
पूर्वापरानुसन्धानहानाद्बुद्धिर्विनश्यति ॥५॥
बुद्धिनाशे सति नरः पशुरेव न संशयः।
का तस्य भक्तिः किं ज्ञानं सर्वनाशस्ततो ध्रुवः ॥६॥

काम के सामने कोई विघ्न आता है तो क्रोध होता है क्रोध आग समान है उस से जलकर चित्तहीन हो जाते हैं उस से स्मृति शक्ति नष्ट होती है तो पूर्वापरानुसन्धान नहीं रहता तो बुद्धि भी नष्ट होती है। फिर तो वह पशु ही होता है। उस को क्या भक्ति होगी और क्या ज्ञान होगा। उस का सर्वनाश ही निश्चित है।

* विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तस्य भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥७॥
कलेर्दुविषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥८॥
तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च * ॥९॥
इति किंचिद्विशिष्योक्तं स्कन्ध एकादशे तथा।
तृतीयेऽपि किमप्यन्यत् पुंभेदमनुरुध्य हि ॥१०॥
* इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥११॥

भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशःस्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः * ॥१२॥
* न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् * ॥१३॥

इसी बात को थोड़ा फरक करके भागवत के एकादश और तृतीयस्कन्ध में भी बताया है ।

परे तु कामप्रभृतौ प्रत्येकं प्रति हेतुता ।
दुःसङ्गस्यात्र हेतुत्वं द्वन्द्वस्यान्ते यतः श्रुतम् ॥१४॥
अतएव क्वचित्कामो विशेषेणोपलभ्यते ।
क्वचित्क्रोधः क्वचिन्मोहमात्रमेषा व्यवस्थितिः ॥१५॥

ॐ

काम क्रोधादि प्रत्येक के प्रति दुःसंग हेतु है ऐसी भी इस की व्याख्या है । अतएव कहीं काममात्र कहीं क्रोधमात्र इत्यादि व्यवस्था बन सकती है ।

ॐ

ननु कामादि हेतुत्वं दुःसङ्गस्य न युज्यते ।
विनापि सङ्गं कामादेः संस्कारेण समुद्भवात् ॥१॥
अनादिरेषा संप्रोक्ता संस्काराणां परम्परा ।
अन्तरेणापि दुःसङ्गं पश्वादौ दृश्यते हि सः ॥२॥

दुःसंग कामादि कारण नहीं है । केवल अनादि संस्कार से ही पशु आदि में काम क्रोधादि देखने में आता है ।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति ॥४५॥

तरंग रूप से रहने वाले ये दोष संग से समुद्र हो जाते हैं ।

सत्यं तरङ्गरूपेण विद्यन्ते सर्व चेतसि ।
कामादयः सङ्गतस्तु समुद्रोपमतामियुः ॥३॥
दद्यान्नावसरं विद्वान्कामादीनां मनागपि ।
ततो ह्युष्ट्रवणिङ्न्यायादाक्रामेयुर्मनो गृहम् ॥४॥
कामाभिभूतः समभूत्सुरासङ्गादजामिलः ।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गतः ॥५॥

बात यथार्थ है किंतु तरंग सदृश ये कामादि संग से समुद्रोपम हो जाते हैं अतः इन को अवसर न देना ही उचित है। अजामिल भीष्मादि का उदाहरण प्रसिद्ध है।

उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति तरङ्गाः क्षणवर्त्तिनः ।
मुमुक्षूणां तथा चित्ते कामक्रोधादयः सताम् ॥६॥
त्रिगुणप्रकृतेरेष स्वभावः सर्व चेतसाम् ।
उद्भवाभिभवौ तेषां यथासङ्गसमुद्भवौ ॥७॥
उद्भूत्यै दृढसंस्कारस्ततो दृढतरोद्भवः ।
इति क्रमेण जायन्ते दुस्तरा दुरपाकराः ॥८॥
तस्मात्तरङ्गसदृशानचिरादभिभावयेत् ।
अङ्गीकृतमहत्सङ्गो दूरोत्सृष्टान्यसंगतिः ॥९॥
अल्प इत्येव कामादिर्नोपेक्ष्योऽन्तर्भवो रिपुः ।
नाल्प इत्येव संत्याज्यस्तूलान्तःपतितोऽनलः ॥१०॥
*उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च* ॥११॥

इति नीतिं च भक्तानां प्रबोधाय महामुनिः ।
सूत्रे सूचयति ध्वान्तपतितोद्धारसुव्रतः ॥१२॥

तरंगों के समान मुमुक्षुहृदय में काम क्रोधादि उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। यह प्रकृतिप्रयुक्त है। परंतु कुसंग से ये उद्भूत होते हैं तो संस्कार भी दृढ होता जाता है। उस से कामादि और उग्र होते हैं इस क्रम से वे भयंकर हो जाते हैं। कामादि अल्प है करके उपेक्षा न करें। रूई पडी चिनगारी के समान, बिमारी के सामान और शत्रुओं के समान तत्काल उन्हें शान्त करना चाहिये।

केचिदत्रापि सामान्यरूपेण मुनिनोपमा ।
कामादीनां तरङ्गेण समुद्रायनमेव च ॥१३॥
वदता सूच्यते साक्षात्प्रत्येकोद्भूतिहेतुता ।
दुःसङ्गस्येति कामादेर्नात्र क्रमिकतेष्यते ॥१४॥

यहां भी कामादि को सामान्यरूप से तरंगोपमा और दुःसंग से समुद्रोपमा कहने से प्रत्येक के प्रति पृथक् ही दुःसंग उद्भव हेतु प्रतीत होता है।

वस्तुतो द्व्यर्थकः सङ्गः सञ्जेः संगच्छतेरपि ।
आसक्तिः प्रथमार्थः स्याद्द्वितीयार्थश्च संगतिः ॥१५॥
आसक्तिं भगवानाह सङ्गस्तेषूपजायते ।
इह संगतिरेवोक्ता महत्सङ्गप्रसङ्गतः ॥१६॥
कामाद्युद्भवहेतुत्वं सामान्यं दुष्टसंगतेः ।
इति सूत्रद्वयार्थोऽपि सम्यगत्रोपपद्यते ॥१७॥
गीतोक्तिप्रत्यभिज्ञानात्सङ्गाध्याहार इष्यताम् ।
विश्वतोमुखसूत्राणां द्व्यर्थत्वाद्वोपपाद्यताम् ॥१८॥

ॐ

वस्तुतः सञ्ज धातु से निष्पन्न संग का आसक्ति अर्थ है और संपूर्वक गम धातु से निष्पन्न संग का संगति अर्थ है। यहां महत्संग के प्रसङ्ग से संगति ही विवक्षित है। दुष्टसंगति से कामादि सभी बढ़ते हैं। गीता श्लोकों की प्रत्यभिज्ञा होने से आसक्त्यर्थक संगका अध्याहार कर लेना चाहिये। या सूत्र विश्वतोमुख होने से इसी सङ्ग पद से वह अर्थ भी निकाल लेना चाहिये। (इसीलिये दुःसंग की अनुवृत्ति आने पर भी 'दुः' को छोड़ कर केवल संग पद सूत्र में ग्रहण किया)

इति भक्ति साधन निरूपणम्।

ॐ

माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।
अप्राप्यैव हरिं मूढाः पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१॥
कथं सा तरणीया स्यान्माया नरकपातिनी।
न च प्रपत्तियोगेन ह्यन्योन्याश्रयतास्थितेः ॥२॥
*न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना* इत्युक्तं प्राङ्मुरारिणा ॥३॥
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते।
इति पश्चाच्च कथितमन्योन्याश्रयता ततः ॥४॥
ततः पप्रच्छ वैदेहः प्रबुद्धं योगिनांवरम्।
मायां कथं तरेन्मर्त्यः सर्वानर्थैककारणम् ॥५॥
*यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम्* ॥६॥

अत्रोत्तरं ददद्योगी भक्तिसाधनमब्रवीत् ।
तदुत्थया च भक्त्या स मायातरणमेव च ॥७॥
* इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् * ॥८॥
तदेवात्रापि देवर्षिर्भक्तिसाधनमब्रवीत् ।
अथेह मायातरणं सप्रश्नमिदमुच्यते ॥९॥

मायामूढ पुरुष भक्ति नहीं पा सकता, भक्ति से ही माया को पार कर सकते हैं इस प्रकार गीता में अन्योन्याश्रित जैसी बात बतायी। प्रबुद्ध योगेश्वर के प्रति विदेह ने इसी कारण प्रश्न किया जिसके उत्तर में योगीश्वर ने प्रथम भक्ति साधन बतलाकर तदुत्पन्न भक्ति से माया तरण कहा। यहां भी उसी के अनुसार देवर्षि ने प्रथम भक्ति साधन बताया। उसके बाद अब मायातरण को प्रश्नोत्तर के रूप में कह रहे हैं।

अथवात्र महान्तः के महत्त्वं केन जायते ।
इत्यन्तर्निहिताकूतः क्रमं कमपि भाषते ॥१०॥
अत एव च सङ्गादित्यागस्योक्तस्य पूर्वतः ।
पुनरप्युपदेशोऽत्र ब्रह्मसूनोः समञ्जसः ॥११॥

अथवा महत् संग करना चाहिये यह पहले बताया। ये महापुरुष कौन है और कैसे होते हैं यह अब कहने जा रहे हैं। अतएव संगादित्याग की पुनरुक्ति यहां दोष नहीं है।

न च वाच्यं महच्छब्दं विनार्थोऽयं कथं भवेत् ।
यतस्तारयतीत्यग्रे प्रवक्ष्यत्युपसंहरन् ॥१२॥

पूरे इस प्रकरण में महान्पद आया नहीं है। तथापि 'सलोकान्

तारयति' इस उपसंहार से महत्त्व प्राप्ति का वर्णन मालूम पड़ता है।

तथा हि मायासंमूढा भवन्ति ज्ञानवर्जिताः।
माययापहृतज्ञाना इति गीतासु कीर्त्तनात् ॥१३॥
माहात्म्याख्यं महत्त्वं च न भवेज्ज्ञानमन्तरा।
गीतायां तदपि प्रोक्तं * ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः ॥१४॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः *।
* बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥१५॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः *।
इत्येवं ज्ञानसंपन्नभक्तस्यैव महात्मता ॥१६॥
सूत्रेऽपि दुर्लभत्वोक्तेर्महच्छब्दप्रयोगतः।
महान्तः प्रत्यभिज्ञाता गीतायां समुदीरिताः ॥१७॥
अत एवात्र मुख्यत्वं गीतोक्तमुररीकृतम्।
गौणी त्रिधेति गौणत्वमग्रे व्याख्यास्यते क्रमात् ॥१८॥

तात्पर्य यह कि मायाविमूढ मानव ज्ञान रहित होता है ज्ञान शून्य महान् नहीं हो सकता। अतएव गीता में ज्ञानी को महात्मा बताया। महात्मा सुदुर्लभ है ऐसा जो गीता में कहा उसी का 'महत्संगो दुर्लभः' यहां प्रत्यभिज्ञान होता है। फलतः महान् का मायातरण गीता सिद्ध है। इस ज्ञानी भक्त के निरूपण के बाद गौणी भक्ति का निरूपण भी गीता के महात्मा की ही याद दिलाता है।

नन्वेवं ज्ञानमिश्रत्वमत्राभ्युपगतं भवेत्।
नैतं मायानावृतत्वमात्रस्यात्र विवक्षणात् ॥१९॥
वृत्त्यात्मकज्ञानयुक्त्वे ज्ञानमिश्रत्वमुच्यते।

मायावरणनिर्हारमात्रे नैतदुपेयते ॥२०॥
अत एवात्र मायायास्तरणस्य निरूपणे ।
वृत्त्यात्मकज्ञातहेतुं न प्राह्याध्ययनादिकम् ॥२१॥

यहां ज्ञानमिश्रत्व की आशंका हो सकती है। परन्तु माया का आवरण निवृत्त होने से स्वयं प्रकाशात्मक ज्ञान जो भासित होता है उसी की विवक्षा होने से हानि नहीं है। वृत्ति ज्ञानघटित होने पर ज्ञानमिश्रा होती है। उसका कारण अध्ययनादि है। नारद जी स्वयं से आगे नहीं कहते।

निरोधरूपताप्राक् च निरोधोद्धाव्यतात्मिका ।
या प्रोक्ता सा च विस्पष्टं वक्तव्या सनिदानतः ॥२२॥
इत्थं बहुतराकूतं हृदि धृत्वा महामुनिः ।
सप्रश्नमब्रवीन्मायातरणस्य प्रयोजकम् ॥२३॥
परे तु विविधाचार्यमतं प्रागुपदर्शितम् ।
स्वमतं निजगादात्र मायातरणकारणम् ॥२४॥
भक्त्यैव भक्तिर्भवति किं तु मायां तितीर्षुभिः ।
त्वरार्थं साधनान्येतदाधीयन्तां मनीषिभिः ॥२५॥

जो निरोधरूपता पहले बतायी उसका भी यहां स्पष्टीकरण करना है; तदर्थ भी मायातरण निरूपण है। कुछ लोग मानते हैं कि पहले अन्याचार्य मत बताया। यहां स्वमत बताया जा रहा है। यद्यपि भक्ति से ही भक्ति होती है तथापि शीघ्र मायातरणार्थ उपाय ये किये जाय यह आशय है।

कस्तरति कस्तरति मायां यः सङ्गांस्त्यजति ।
यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥४६॥

माया को कौन भला तर सकता है ? जो संग छोड़ता है जो महानुभावों की सेवा करता है, ममताहीन होता है ।

संदिग्धं प्रत्यसन्दिग्धो भ्रान्तं वा प्रतिनिश्चितः ।
साश्चर्यमुत सोल्लासं द्विरुक्त्याऽऽचोद्य भाषते ॥२६॥
* माया नाम महेशानि ज्ञानिनामपि मोहिनी ।
अनित्यादिषु नित्यादिभावनोद्भाविनी मता * ॥२७॥
अनित्यादिषु नित्यादिख्यातिमाह पतञ्जलिः ।
अविद्यां तत्प्रयोक्त्री च माया किं वातदात्मिका ॥२८॥

असन्देह और निश्चय के सोल्लास कथन में यहां द्विरुक्ति है । अनित्यादि में नित्यादि ख्यातिरूपी अविद्या या उसकी प्रयोजिका को 'माया नाम' इत्यादि श्लोक में माया कहा है ।

* परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामो भगवन्तो ब्रुवन्तु नः * ॥२९॥
इति राज्ञः परिप्रश्नादन्तरिक्षो यतीश्वरः ।
भूतसृष्टिं स्थितिं चैव प्रलयं चाभिधाय सः ॥३०॥
* एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा* त्यभ्यधान्मायारूपं यत्तदिहोच्यते ॥३१॥

अन्तरिक्ष योगीश्वर प्रोक्त सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी त्रिगुणात्मिका माया भी यहां विवक्षित है ।

तरत्यविद्यामिति च मायामेतां तरन्ति ते ।
इति चात्रावलोक्येते तरणेऽत्र श्रुतिस्मृती ॥३२॥
तरणं तु निवृत्तिः स्यादित्याचख्युर्मनीषिणः ।

भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति हि श्रुतिः ॥३३॥
निवृत्तिरुदितो बाध इत्यद्वैतविदो विदुः ।
अदर्शनं निवृत्तिः स्यादित्यन्ये च प्रचक्षते ॥३४॥
सर्वथापि च मर्त्यानां प्राकृतेष्वेव बध्नताम् ।
न दिव्यरससाम्राज्यप्रवेशो हि कुतश्चन ॥३५॥
लीलाविनिर्मितं विश्वमपारो महिमा हरेः ।
इत्युत्कृष्टसमाकृष्ट्यै जगत्सत्यत्वमिष्यताम् ॥३६॥
मिथ्याभुजङ्गसदृशः प्रपञ्चः सत्त्ववर्जितः ।
इति तुच्छपरित्यागहेतोर्मिथ्यात्वमिष्यताम् ॥३७॥
सर्वथापि जगन्मायाबन्धविस्रंसनादृते ।
न भक्तिलक्षणा मुक्तिरित्येतद्धृदयं मुनेः ॥३८॥
रुचिवैचित्र्यतो यान्तु येन केनापि वा पथा ।
भक्तिः परं तत्त्वमिति रहस्यं सर्वशास्त्रगम् ॥३९॥

अविद्या और माया दोनों का तरण शास्त्रोक्त है। निवृत्ति ही तरण है। चाहे वह बाध हो चाहे अदर्शन, सर्वथापि यह प्राकृत-मायाबन्धन जब तक रहेगा तब तक दिव्यसाम्राज्यप्रवेश संभव नहीं है। लीलानिर्मित है विश्व। अतः भगवान् महामहिमसम्पन्न है जानकर भगवान् की उत्कृष्टता से भगवान् में आकृष्ट हो या जगत् मिथ्या है इस प्रकार इसकी तुच्छता से इसे छोड़ दो सर्वथा इसे छोड़ना जरूरी है। परमतत्त्व तो भक्ति ही है॥

सङ्गत्यागमहत्सेवाप्रभृतेः कोऽपि न क्रमः ।
अविच्छिन्नानुरागे हि सर्वेऽपि समहेतवः ॥४०॥

तथापि भवति प्रायः क्रमोऽयं योऽनुभाष्यते ।
इत्याशयी विभागेन सङ्गत्यागादिकं जगौ ॥४१॥
महानुभावसेवा हि क्रियते न कुसङ्गिभिः ।
इति सङ्गपरित्यागमादावाह महामुनिः ॥४२॥
* सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गे च साधुषु * ।
इत्यादिष्वप्ययं दृष्टः क्रमः शास्त्रकृदुक्तिषु ॥४३॥
क्वचित्तु महतां सङ्गाद्वाल्मीक्यादेरसङ्गता ।
पश्चाद् दृष्टेति तत्रैतं प्रायोवादं हि मन्महे ॥४४॥

संग त्याग महानुभाव सेवा आदि सभी अविच्छिन्नानुराग में समानरूप से हेतु है फिर भी प्रायः क्रम देखा जाता है। वाल्मीकि को पहले सत्संग मिला तब असंगता हुई ऐसा क्रमान्तर भी देखने को मिलता है।

योऽनु पश्चाद्भवेद्भावः सोऽनुभाव उदीर्यते ।
नाटकादौ प्रसिद्धोऽयं रसः स हि निगद्यते ॥४५॥
येषां पुरुषवर्याणामनुभावो महान् भवेत् ।
महानुभावास्ते नाम ब्रह्मनिष्ठा मनस्विनः ॥४६॥
शुश्रूषणं तदादेशपालनं तत्कथाश्रुतिः ।
इत्यादिकमिहाशेषं तत्सेवनमुदाहृतम् ॥४७॥
रहूगण तपश्छन्दइज्यानिर्वापणादिभिः ।
न लभ्यः स महत्पादरजोधारणमन्तरा ॥४८॥
* सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्संभाषणसंप्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् * ॥४९॥

अनुभाव रस को कहते हैं। ब्रह्मरसानुभव करने वाला मनस्वी ही महानुभाव है उनकी शुश्रूषा, आदेशपालन, कथा श्रवणादि सभी महानुभाव सेवा ही है।

*प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् * ॥५०॥
इत्येवं वदता राज्ञा सनकादिप्रसङ्गतः।
सर्वत्र निर्ममत्वं च पृथुना प्रकटी कृतम् ॥५१॥
*अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं वृष्णिषु पाण्डुषु * ॥५२॥
इत्येवं पृथया कृष्णः निर्ममत्वाय प्रार्थितः।
भगवद्भक्तसङ्गं च बहुमेने मनस्विनी ॥५३॥

ॐ

महानुभाव सेवा से निर्ममता पृथु आदि की भक्ति में स्पष्ट है। कुन्ती माता भी निर्ममता की प्रार्थना करती है।

ॐ

सङ्गत्यागमहत्सेवानिर्ममत्वात्मकं त्रयम्।
सोपानसममारूढः प्राप्नुयात्पूर्वपीठिकाम् ॥१॥

संगत्याग, महानुभाव सेवा और निर्ममता ये तीन सोपान त्रय (तीन सीढ़ी) के समान है। अब पूर्व पीठिका देखिये।

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबन्धमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ॥४७॥

जो एकान्त वास करता है, जो लोकबन्धन तोड़ देता है, जो

तीनों गुणों को पार करता है, जो योगक्षेमचिन्ता से दूर रहता है (वह माया को तर सकता है)।

विविक्तदेशवास्तव्यः समासीनः समं शुचिः।
समग्रीवशिरः कायो यतवाक्कायमानसः ॥२॥
अत्याश्रमी गुरुं भक्त्या प्रणम्य हृदयाम्बुजे।
ध्यायन् विशुमुपैतीशं सर्वसाक्षिणमद्वयम् ॥३॥
इत्येवं श्रुतिषु प्रोक्त सर्वसाधनसंहतिः।
विविक्तस्थानशब्देन सूच्यतेऽत्र महर्षिणा ॥४॥
* विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयायकल्पते* ॥६॥
इत्येवमाह भगवान् विविक्तस्थानसेविनः।
ध्यानयोगादिकं चैव प्राप्तव्यं साधनान्तरम् ॥७॥
विविक्तस्थानसेवायां त्यागः प्रत्यक्ष ईक्ष्यते।
इति संन्यासरूपत्वात्तस्येयं पूर्वपीठिका ॥८॥

सूत्र में विविक्त स्थान पद से आसन ध्यानादि उपनिषदुक्त अन्य भी साहचर्यात् ग्राह्य हैं। एकान्त वास में अन्य त्याग प्रत्यक्ष है अतः यह संन्यास की पूर्वपीठिका है।

इत्थमेकान्तसेवित्वं सांतत्यपरिशीलनात्।
दारागाराद्यसल्लोकसम्बन्धोन्मूलनं भवेत् ॥९॥
लोकबन्धविभेदः स्याद्यद्यप्येकान्तसेवया।

तथापि वासनोच्छेदो भवेत्तस्य न सर्वथा ॥१०॥
मूलविच्छित्तये तस्माद्यत्नः कार्यो विशेषतः ।
इत्याशयाण्णिजन्तेन जगादोन्मूलयेदिति ॥११॥
देवर्षिणात्र संन्यासः स्पष्टमुट्टङ्कितो भवेत् ।
बाह्याभ्यन्तरसामान्यसंन्यासोऽयं प्रकीर्त्तितः ॥१२॥

एकान्त सेवन से लोकबन्ध छूटता है परन्तु वासनारूपी मूल सहित विनाशार्थ यत्न करना चाहिये एतदर्थलाभार्थ उन्मूलयेत् ऐसा णिजन्त प्रयोग है। यह बाह्याभ्यन्तर सामान्य संन्यास है।

ततः क्रमेण तस्यैव निस्त्रैगुण्यस्थितिर्भवेत् ।
निस्त्रैगुण्यो भवेत्येवं भगवानर्जुनं जगौ ॥१३॥
* प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
नद्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥१४॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते * ।
इत्यप्याह विजिज्ञासुं गुणातीतस्य लक्षणम् ॥१५॥

इसके बाद निस्त्रैगुण्यता आती है। राग द्वेषादि रहित होकर उदासीन स्थिति ही निस्त्रैगुण्यता है।

अथवा निर्गुणं यद्धि ज्ञानवाससुखादिकम् ।
श्रीमद्भागवतप्रोक्तं निस्त्रैगुण्योऽत्र तत्स्थितः ॥१६॥
त्रैगुण्यात्सर्वथा यस्तु निर्गतस्तस्य योगिनः ।
योगक्षेमपरित्यागोपदेशोऽग्रे न कल्पते ॥१७॥

अथवा श्रीमद्भागवत में ज्ञान, निवास, सुखादि के चार चार भेद करके जो निर्गुण बताया उसमें स्थिति ही यहाँ निस्त्रैगुण्यता है। अन्यथा योगक्षेमत्यागोपदेश व्यर्थ होगा।

* द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकम् ।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥१८॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः ।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्धया वा भरतवर्षभ ॥१९॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ॥२०॥
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते * ।
इति तत्रैव निजगौ भगवानुद्धवं प्रति ॥२१॥

द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक, श्रद्धा, अवस्था, आकृति, निष्ठा ये सभी त्रिगुणात्मक है, देखा हुआ, सुना हुआ और सोचा हुआ भी त्रिगुणात्मक है। ये गुण कर्म प्रयुक्त संसार है। इनको भक्तियोग से जीतकर मुझे प्राप्त होता है इस प्रकार भगवान ने उद्धव को बताया।

* तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसंभवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥२२॥
निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥२३॥
सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् * ॥२४॥
इति चाप्यगदीत्तत्र गुणनिर्जयकारणम् ।
द्रष्टव्यं तदिहाप्येव निस्त्रैगुण्यत्वहेतवे ॥२५॥

मानवशरीर पाकर गुण संग को छोड़कर मुझे भजो सत्त्व गुण

से रज और तम को और निरपेक्षता से सत्त्व गुण को जीतने पर जीवभाव छोड़कर गुणयुक्त भक्त मुझे प्राप्त होता है इस गुणविजय कारण को यहाँ भी समझें।

अप्राप्तप्रापणं योगः क्षेमः प्राप्तस्य रक्षणम्।
तदेतदुभयं नाम निस्त्रैगुण्यः परित्यजेत् ॥२६॥

अप्राप्त की प्राप्ति योग और प्राप्त का रक्षण क्षेम है निस्त्रैगुण्य इन दोनों को छोड़ देते हैं।

भवेच्छ्रेयो वृणानस्य साधु नास्त्यत्र संशयः।
प्रेयस्तु वृणते योग-क्षेमहेतोश्च मन्दधीः ॥२७॥
अलोलुपन्त नो कामा अयोगक्षेमभाविनम्।
प्रलोभ्यमानमपि च यमेन नचिकेतसम् ॥२८॥
तस्माद्भक्तैः परित्याज्या योगक्षेमाभिलाषिता।
प्रेयोवरणबीजत्वाद्धेयत्वाच्च विवेकिनाम् ॥२९॥

कठोपनिषद् के अनुसार योगक्षेम की चिन्ता वाला प्रेय का वरण करता है। अतः वह त्याज्य है।

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् * ॥३०॥
इत्येवं हरिणोक्तत्वात्तच्चिन्तात्याग एव हि।
योगक्षेमपरित्याग इति व्याचक्षते परे ॥३१॥

ॐ

अनन्य जो मेरा भजन करता है उसके योगक्षेम का वहन मैं करता हूं इस भगवद्वचन से योग क्षेमचिन्ता का त्याग ही यहां योग क्षेम त्याग है ऐसी भी व्याख्या करते हैं।

ॐ

अभिधाय मुनिः प्रेम संन्यासे पूर्वपीठिकाम् ।
उत्तरां पीठिकामाह कर्मसन्यासलक्षणाम् ॥१॥

प्रेम संन्यास की पूर्वपीठिका के बाद अब उत्तरपीठिका देखिये ।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माण्यपि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥४८॥

जो कर्मफल को छोड़ता है, फिर कर्मों को भी त्याग देता है और उससे निर्द्वन्द्व हो जाता है (वह माया को तर सकता है)।

❀ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी चेत्युक्तं संन्यासलक्षणम् ❀ ॥२॥
प्रथमं न स्वरूपेण कर्मत्यागो हि युज्यते ।
तस्मात्कर्मफलत्यागः प्रथमं परिगृह्यते ॥३॥
❀ यज्ञ दानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥४॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥५॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः❀ ॥६॥

गीता में कर्मफल को छोड़कर कर्म करना ही प्रथम संन्यास लक्षण बताया है। स्वरूपतः कर्मत्याग प्रथम नहीं हो सकता। क्योंकि उससे (कर्म से) पवित्रता प्राप्त होती है।

नियतानि तु कर्माणि कुर्वंस्तस्य फलं त्यजन् ।
शुद्धान्तःकरणो भक्त आत्मारामो भवत्यसौ ॥७॥
*यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते* ॥८॥
*सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्* ॥९॥
क्रमोन्नतिरिह प्रोक्ता तेन नैव विरोधिता ।
कर्मत्यागे फलत्यागाऽसंभावननिबन्धना ॥१०॥

नियत कर्म करने से शुद्धचित्त होकर प्रथम फलत्याग और बाद में आत्माराम होने से कर्मत्याग करता है। यही यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् इत्यादि गीतावचन में बताया है। यहां क्रमोन्नति विवक्षित है। अतः कर्मसंन्यास होने पर फल त्याग कैसे संभव ? इत्यादि प्रश्न नहीं उठते ।

केचित्तु कर्मसंन्यासो न त्यागोऽयं स्वरूपतः ।
विरोधात्, किन्तु कर्तृत्वबुद्धित्यागो विवक्षितः ॥११॥
*यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम् ।
त्वया कृतं तत्फलभुक्त्वमेव परमेश्वर* ॥१२॥
तदसत् कर्मसंन्यासे फलत्यागो न चेद्भवेत् ।
कर्तृत्वभावसंन्यासे फलत्यागः कथं वद ॥१३॥
नैव क्वचित्फलत्यागः परेण कृतकर्मणाम् ।
स्वस्य कर्तृत्वविरहाद् न च स्वकृतकर्मणाम् ॥१४॥
क्रमिकत्वविवक्षाचेत्तुल्यैवास्मन्मतेऽपि सा ।

अशब्दार्थविवक्षा तु भवतामतिरिच्यते ॥१५॥

कर्मसंन्यास होने पर फल त्याग का सवाल नहीं रहता अतः पूर्वापर विरोध होगा, अतः कर्मसंन्यास का कर्त्तृत्वभावना त्याग अर्थ है ऐसा किसी का मत है। परन्तु कर्त्तृत्व अपने में नहीं रहा तो अन्यकृत कर्मफल का त्याग कैसा ? और यह तो सूत्रगत शब्द का यथाश्रुतार्थ भी नहीं है।

भोक्तृत्वभावनात्यागः फलत्यागोऽभिधीयते ।
कर्त्तृत्वभावनात्यागः कर्मसंन्यास इत्यपि ॥१६॥
निरस्तमुक्तयुक्त्यैव ह्यशब्दार्थावलम्बनात् ।
सूत्राणां शबरस्वामी मीमांसां नह्यमन्यत ॥१७॥

फल त्याग का अर्थ भोक्तृत्वभावना त्याग और कर्मसंन्यास का अर्थ कर्त्तृत्वभावना त्याग इस प्रकार कहना भी समुचित नहीं है। कारण यथाश्रुतार्थ परित्याग हो जाता है। और पूर्वमीमांसा सूत्र भाष्य में शबरस्वामी का कहना है कि वेदार्थ मीमांसा के लिये सूत्र है और सूत्रार्थमीमांसा भी करनी पड़ जाय तो यत्न गौरव होगा। अतः सूत्रों में जहां तक संभव है यथाश्रुतार्थ ही लिया जाना चाहिये।

ननु कश्चित् क्षणमपि नैव तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
तथा च कर्मसंन्यासः कथमेवोपपद्यताम् ॥१८॥
मैवं कर्मपदेनात्र चोदनैवाभिधित्सिता ।
वेदत्यागफलत्यागमध्येऽस्य पठितत्वतः ॥१९॥
लोकशास्त्रप्रसिद्धश्च न्यासश्चोदितकर्मणाम् ।
न तु स्वाभाविकानां सोऽशक्यत्वादफलादपि ॥२०॥

नहि कश्चित् क्षणमपि इस गीतावचनानुसार सर्वथा कर्म छोड़ना

असंभव होने से कर्तृत्वभावना त्याग अर्थ क्यों न किया जाय इसका उत्तर यह है कि वेदविहित कर्मसंन्यास ही सर्वत्र संन्यास शब्द का अर्थ है। स्वाभाविक कर्म त्याग अशक्य है और निष्फल भी है।

*तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥२१॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतो भयः* ॥२२॥
इत्येवं हरिणा प्रोक्तः संन्यासो वेदकर्मणोः।
अत्र सूत्रद्वयेनोक्तो नारदेन महर्षिणा ॥२३॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य इत्यादि श्लोकों में जो विहित कर्म त्याग और श्रोतव्य वेदादित्याग बताया है वही यहाँ पर दो सूत्रों में नारद जी ने भी बताया है।

नन्वर्पिते भगवति भक्तिः स्यात्फलकर्मणी।
तस्मादर्पणमेवात्र सूत्रोक्तमिति चेन्न तत् ॥२४॥
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्येत्युपदर्शितवाक्यतः।
कर्ममिश्रामवोचाम चोदितानुष्ठितिं पुरा ॥२५॥
श्लोकेऽस्मिन्नेकमेवेति सूत्रेऽग्रे केवलेति च।
समर्थयति संन्यासं यथोक्तमिति मे मतिः ॥२६॥

यद्यपि ईश्वरार्पित फल तथा कर्म भी भक्ति है। तथापि पूर्वोक्त भागवतप्रमाण से यहाँ संन्यास यथोक्त ही है। अन्यथा वह कर्म मिश्रा भक्ति होगी। मामेकमेव यहाँ एक शब्द और अगले सूत्र में केवल शब्द भी इसका समर्थक हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थ इत्यादिभिरुदीरितम् ।
निर्द्वन्द्वत्वं भवेदस्य कर्मसंन्यासिनो यतेः ॥२७॥
स्पष्टीकृतं तदेतच्च गीतायां द्वादशेऽप्यजः ।
* शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥२८॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥२९॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः* ॥३०॥

ॐ

कर्मसंन्यासोत्तर निर्द्वन्द्वता आ जाती है। शुभाशुभपरित्यागी इत्यादि से गीता के बारहवें अध्याय में इसे देखें।

ॐ

अथाधुना तु संन्यासः परमोऽत्राभिधीयते ।
येनैव परमप्रेम यतो मायां तरेन्नरः ॥१॥

अब परमसंन्यास बताते हैं जिससे परमप्रेम और मायातरण होता है।

यो वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नमनुरागं लभते ॥४९॥

जो वेदों का भी संन्यास करता है और केवल अविच्छिन्न अनुराग प्राप्त करता है (वह माया को तर जाता है)

* ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः * ॥२॥

ज्ञानविज्ञानतो भक्तिं परमां प्राप्य कोविदः ।
पलालमिव तज्ज्ञानं विज्ञानं च परित्यजेत् ॥३॥
नायं प्रवचनेनोत मेधया वा श्रुतेन वा ।
लभ्यो हरिर्वृणानस्य स्वां तनूं विवृणोत्यसौ ॥४॥
अविच्छिन्नानुरागेण वृणानस्य महात्मनः ।
विवृणोति कृपासिन्धुः स्वां तनूं प्रेमलक्षणाम् ॥५॥

ग्रन्थाभ्यास से ज्ञानविज्ञान प्राप्त होने पर ग्रन्थों को भूसी के समान त्याग दें। और ज्ञानविज्ञान से भक्ति प्राप्त होने पर ज्ञान-विज्ञान को भी भूसी के समान त्याग दें। क्योंकि हरि प्रवचन, मेधा और श्रुत (ज्ञानविज्ञानादि) से लभ्य नहीं है। जो अविच्छिन्नानु-राग से भजता है उसके सामने भगवान् अपना प्रेमरसात्मक शरीर प्रकट करते हैं।

❀ प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः ।
कामाहृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदिस्थिते ॥६॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥७॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ❀ ॥८॥

भजन करने वालों के हृदय में भगवान् स्थित होते हैं तो कामना, वासना, संशय और कर्मों का नाश हो जाता है उसका ज्ञान वैराग्य के बिना भी श्रेय होता है ये शास्त्रवचन हैं।

ज्ञानाभावेऽपि नो हानिर्ज्ञाने सति तु तत्त्यजेत् ।
ज्ञानिनोऽपि त्यजन्त्यन्ते ज्ञानं द्वैतप्रसञ्जनम् ॥९॥

ज्ञान न हो तो भी हानि नहीं, ज्ञान हो तो उसका त्याग करें यह सूत्राभिप्राय है। ज्ञानी भी अन्त में ज्ञान को छोड़ देते हैं। अन्यथा एक ब्रह्म और दूसरा ज्ञान ऐसी द्वैतापत्ति होगी।

ननु ज्ञानस्य विध्वंसस्तत्त्वज्ञानान्तरात्मकः।
चरमज्ञानविध्वंसो ब्रह्मरूप उदीर्यते ॥१०॥
ज्ञानान्तरं ज्ञानमेव ब्रह्म च ज्ञानलक्षणम्।
तथा च ज्ञानिनां नैव ज्ञानत्यागः प्रसज्यते ॥११॥
सत्यमत्रापि च ज्ञानध्वंसः प्रेमात्मको भवेत्।
प्रेम्णो न मन्महे ध्वंसं विच्छेदरहितत्वतः ॥१२॥
वृत्त्यात्मकज्ञानहानिर्भवतामपि संमता।
ममापि वृत्तिविज्ञानहानौ प्रेमावशिष्यते ॥१३॥
तदाहर्षिरविच्छिन्नानुरागं लभते गिरा।
अविच्छिन्नत्वमग्रेऽपि वक्ष्यते प्रेमलक्षणे ॥१४॥

ज्ञान नाश ज्ञानान्तररूप होता है और चरमज्ञाननाश ब्रह्मरूप होता है ब्रह्म ज्ञानात्मक है अतः ज्ञानत्याग नहीं होता इस शंका का समाधान यह कि वृत्तिज्ञान का परित्याग होता है और ज्ञाननाश अविच्छिन्न प्रेमरूप होगा यही यहां 'अविच्छिन्नानुरागं लभते' कहकर बताया।

ननु जन्यस्य नाशः स्याज्जन्यं प्रेम च मन्यसे।
न वा परम्परा नित्या तदुच्छेदध्रुवत्वतः ॥१५॥
मैवं ज्ञानोतरप्रेमवृत्त्याऽभिव्यज्यते परम्।
वृत्तिनाशेऽप्यभिव्यक्तं तत्तथैवावतिष्ठते ॥१६॥

ज्ञानोत्तर प्रेमवृत्ति से अभिव्यक्त प्रेमानुराग नित्य है यही अविच्छिन्नानुराग का अभिप्राय है ॥

परे तु वृत्तिमप्याहुः पारम्पर्येण शाश्वतीम् ।
उत्तरोत्तरवृत्तीनां पूर्वपूर्वा हि कारणम् ॥१७॥
ननु स्यात्कार्यसामान्यं प्रत्यदृष्टस्य हेतुता ।
अदृष्टविरहेऽनन्ता कथं प्रेमपरम्परा ॥१८॥
पुण्यादेः कर्मसाध्यत्वात्कर्मणां चान्तवत्त्वतः ।
नानन्तकालपर्यन्ता वृत्तिः संभावितेति चेत् ॥१९॥
* योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा * ॥२०॥
इति पुण्यस्वरूपत्वं भक्तेः स्पष्टमुदीरितम् ।
उत्तरोत्तरभक्तेस्तज्जन्मस्यात्पूर्वपूर्वया ॥२१॥

कुछ मनीषियों का मानना है कि प्रेमवृत्तिपरम्परा भी अनन्तकालपर्यन्तवर्त्तिनी है। यद्यपि कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट कारण है। और अदृष्ट तो अन्ततः समाप्त होता है। तथापि भक्ति स्वयं पुण्यात्मक होने से पूर्वपूर्वभक्ति से उत्तरोत्तर भक्ति उत्पन्न होती जायेगी। अतः प्रेमपरम्परा अनन्त हो जाती है।

शब्दाच्छब्दान्तरं न्यून-सत्ताकं जायते क्रमात् ।
प्रेम्णः प्रेमान्तरं तूर्ध्व-सत्ताकं जायते क्रमात् ॥२२॥
शब्दाच्छब्दान्तरं त्वन्ते निःसत्ताकं तिरोहितम् ।
प्रेम्णः प्रेमान्तरं त्वन्तेऽनन्तसत्ताकमुद्भवेत् ॥२३॥
प्रतीक्षणं वर्धमानं यदग्रेऽङ्ग प्रवक्ष्यते ।

तदस्मिन्नेव सिद्धान्ते नितरामुपपद्यते ॥२४॥

जैसे न्यायमत में शब्द से शब्दान्तर होता है वैसे भक्त मत में प्रेम से प्रेमान्तर होता है। फरक इतना कि उत्तरोत्तर शब्द न्यून होकर अन्त में समाप्त होता है, परन्तु प्रेम उत्तरोत्तर अधिकाधिक होकर अन्त में अनन्त होता है। इसी आशय से आगे प्रतिक्षण-वर्धमान भी कहा जायेगा।

ननु भो कारणात्कार्यं न्यूनसत्ताकमीक्षितम्।
कालतो देशतः क्वापि न्यूनं क्वापि च सत्तया ॥२५॥
नैवं बीजाद्धि वृक्षस्य देशतः कालतोऽपि च।
सत्तयाप्यधिकत्वं न दृष्टं दृष्टान्ततः कुतः ॥२६॥
अत्र शास्त्रीयवचनात्सतामनुभवादपि।
ऊर्ध्वसत्तां वदन् प्रेम्ण उपालम्भ्यः कथं भवेत् ॥२७॥

कारण से कार्य की सत्ता देशतः कालतः या सत्तातःन्यून होती है जैसे रूई की अपेक्षा कपड़ा न्यूनदेशकालवस्तुक होता है। तब प्रेम से उत्पन्न प्रेमान्तर उससे अधिक सत्तावाला कैसा ? इसका समाधान यह कि कारण से कार्य कम होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। बीज छोटा होता है किन्तु वृक्ष बड़ा होता है। दूसरी बात, हम युक्तितर्क पर आश्रित नहीं है। प्रेम से प्रेमान्तर अधिक सत्ता-वाला होता है यह शास्त्र सिद्धान्त है और सन्तों का अनुभव है।

इदं तु चिन्त्यते कस्मात्प्रोक्तं यत्पदसप्तकम्।
तथा विभागशः कस्मात्प्रोक्तं सूत्रचतुष्टयम् ॥२८॥

यः सङ्गान् यो महानुभावं इत्यादि 'यः' पद की सात बार आवृत्ति का क्या प्रयोजन ? और एक ही सूत्र न कहकर अलग-अलग चार सूत्र क्यों बनाये ?

अत्र केचित्समाचख्युरलंकारार्थमेव तत् ।
अज्ञानाद्युपकाराय पाठसौकर्यकारणम् ॥२९॥

यहां कुछ लोगों का कहना है कि एक तो अलंकारिक भाषा के लिये वैसा किया, दूसरा अज्ञानियों को अलग पढने पर समझने को सुविधा रहती है. तीसरा, पाठ करने में सुविधा होती है ।

परे तु जगदुः प्राज्ञा इहोक्ताः सप्तभूमयः ।
तथा च सप्तकृत्वोऽत्र मुनिः प्रायुङ्क्त य पदम् ॥३०॥

अन्य विद्वानों का कहना है कि यहां सात भक्तिभूमिकायें बताने के लिये 'यः' पद की सात बार आवृत्ति है ॥

अत्रैव बालकल्पाः स्युराद्यसूत्रनिदर्शिताः ।
महानुभावसेवैकप्राप्यश्रेयांस एव ते ॥३१॥

चार सूत्रों में प्रथम सूत्र में बालकसदृशभक्तों का उदाहरण है। क्योंकि महापुरुषसेवामात्र में उनका श्रेय है ॥

सङ्गत्य.गे महत्सङ्गकरणे च महत् फ.लम् ।
निर्ममत्वमतस्तत्र यत्पदं नैव योजितम् ॥३२॥

संग त्याग और महापुरुषसंग का फल निर्ममत्व है अतः वहां यत्पद नहीं जोड़ा ।

प्रौढाः पुनर्द्वितीयेन सूत्रेण समुदाहृताः ।
विविक्तस्थानवासादिः प्रौढानां युज्यतेतराम् ॥३३॥

द्वितीय सूत्र में प्रौढ भक्त दिखाये गये हैं। एकान्त स्थान में वास करना आदि प्रौढों के लिये उचित ही हैं ।

निस्त्रैगुण्यस्थितिस्तेषां फलत्वेनोपवर्णिता ।
अतः पूर्ववदत्रापि यत्पदं न प्रयोजितम् ॥३४॥

निस्त्रैगुण्यता फल होने से यहाँ भी 'यः' पद नहीं जोड़ा।

निस्त्रैगुण्यो भवेत्येवं गीतायां भासते विधिः।
तथापि फलमेवैतदविधेयं हि तद्यतः ॥३५॥
अत एव हरिः प्राह नित्यसत्त्वस्थतादिकम्।
साधनं तस्य नो चेत्तद्विरुद्धं स्यान्निजोक्तितः ॥३६॥
त्रैगुण्यान्तर्भवं सत्त्वं तत्स्थो निस्त्रिगुणः कथम्।
निस्त्रैगुण्यं फलं तस्मात् सत्त्वस्थित्यादि साधनम् ॥३७॥

यद्यपि गीता में निस्त्रैगुण्यो भव। यह विधि मालूम पड़ती है। तथापि नित्यसत्त्वस्थो भव इत्यादि साधन विधान से वहाँ भी फल ही विवक्षित है। नहीं तो त्रैगुण्यान्तर्गतसत्त्व में स्थित कहने से स्वोक्तिविरोध होगा।

निस्त्रैगुण्यस्थितेरीषल्लाभे हि सुकरो भवेत्।
योगक्षेमपरित्यागस्तस्मात्पश्चात्पपाठ तम् ॥३८॥

निस्त्रैगुण्यस्थिति का ईषत् लाभ होने पर योगक्षेम त्याग सुगम है अतः बीच में फल कहकर बाद में साधन कहा।

उत्तमा भक्तवर्यास्तु तृतीयेनोपदर्शिताः।
संन्यासादिमहायोग उत्तमानां हि कल्पते ॥३९॥

तृतीय सूत्र में उत्तम भक्तों का निदर्शन है। क्योंकि संन्यासादि महायोग उत्तम भक्तों को ही संभव है।

संन्यासक्रममात्रत्वान्न पृथग्भूमिकोदिता।
निर्द्वन्द्वत्वं फल त्वत्र कण्ठोक्तं पञ्चमीश्रुतेः ॥४०॥

फलसंन्यास तथा कर्मसंन्यास एक ही संन्यास का क्रममात्र है अतः उसे दो भूमिका नहीं मानी। निर्द्वन्द्वता फल है यह 'ततः' इस पद से कण्ठोक्त है।

तुरीयास्तु महाभागाः परमास्तेऽनुरागिणः ।
सिद्धावस्थां परिप्राप्तास्तथा तात्पर्यदर्शनात् ॥४१॥

चतुर्थ सूत्र में सिद्धावस्था कोटि के भक्त बताये गये हैं।

साधनस्य कनिष्ठत्वं प्रथमस्यापि नेष्यते ।
किन्त्वत्रसाधकस्यैव बालकल्पत्वमीर्यते ॥४२॥
असंकल्पाज्जयेत्काममिति प्रक्रम्य विस्फुटम् ।
गुरुभक्त्यैव सर्वेषां विजयस्याभिधानतः ॥४३॥

ॐ

परंतु यहाँ यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि चार सूत्रों में साधकों का ही उत्तम कनिष्ठादि भाव बताया है, साधनों का नहीं। क्योंकि श्रीमद्भागवत में असंकल्पाज्जयेत्काम इत्यादि उपक्रम कर गुरुभक्ति से ही सर्वविजय बताया है (वही तो यहाँ प्रथम सूत्र में है)।

मायां कस्तरतीत्यत्रप्रश्ने यत्पदबोधितः ।
योऽर्थस्तत्र हि नाकाङ्क्षा तत्पदस्य तु विद्यते ॥१॥
तथापि चोपसंहार-व्याजेन भगवानृषिः ।
अधिकार्थविवक्षुः सन्निदमाह महामुनिः ॥२॥

कौन माया को पार करता है जो सङ्गत्यागादि करता है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर होने पर अब पृथक् तत्पद की आकांक्षा नहीं रह जाती। तथापि उपसंहार के बहाने कुछ अधिक अर्थ बताने के लिए यह सूत्र है—

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ॥५०॥

वह (माया को) तर जाता है और लोगों को भी तार देता है।

* विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् * ॥३॥
संसारगतिरेवाध्वा भाष्यकृद्भिरिहोदिता ।
मायाशब्दानुपादानादिह तत्तरणं मतम् ॥४॥

विज्ञान सारथि इत्यादि मन्त्र में संसार गति रूपी अध्वाकातरण बताया है। मायाशब्द सूत्र में न होने से उसी अध्वा को पार करना यहाँ सूत्र में विवक्षित है।

शोकं तरत्यात्मवेत्तेत्येवं यच्छ्रुतिषु श्रुतम् ।
विवक्षितं तदप्यत्र साधारण्येन कीर्त्तनात् ॥५॥

"तरति शोकमात्मवित्" यह शोकतरण भी यहाँ विवक्षित है।

मायाशब्देन सर्वोऽर्थो धर्त्तुं यद्यपि शक्यते ।
तथापि मूलाविद्यार्थभ्रान्तिस्तद्ग्रहणाद् भवेत् ॥६॥
मायातत्कार्यमुभयं पृथक् प्रायो निगद्यते ।
सामान्यतरणोक्त्या च तावानर्थोऽत्र लभ्यते ॥७॥

माया और तत्कार्य को प्रायः अलग ही कहते हैं। अतः उभय संग्रहार्थ केवल तरण यहाँ बताया।

न केवलं तरत्येष स लोकांस्तारयत्यपि ।
इत्यर्थमधिकं त्वत्र मुनिवर्यो विवक्षति ॥८॥

तरते ही नहीं तारते भी हैं यह अधिकार्थविवक्षा है।

दुस्तरं स्वयमुत्तीर्य भवाब्धिं वृतसौहृदाः ।
सदनुग्रहपादाब्जनावमन्यार्थतो न्यधुः ॥९॥

श्रीमद्भागवत दशम में कहा है कि भवसागर स्वयं पार करके

भगवत्पादरूपी नौका को महापुरुष दूसरों के उपकारार्थ छोड़ गये। भगवान् सत्पुरुषों के द्वारा ही अनुग्रह करते हैं।

न लोकतारणायासं विदधाति हरिप्रियः।
वृष्टिवत्तु शमं लोकान् गमयेत्स स्वभावतः ॥१०॥

लोगों को तारने का उन्हें कोई आयास नहीं होता। किंतु जैसे वृष्टि होने पर स्वयं शान्ति होती है वैसे महापुरुषों के आने पर स्वभावतः शान्ति होती है। यही तारण है।

चिकीर्षया भवेद्यत्र तारणं तत्र कारणम्।
इष्टसाधनताज्ञानं, तत्रासत्पद्धवजनम् ॥११॥
न तत्सर्वमिहास्तीति मुनिः सूचयितुं स्फुटम्।
लोकांस्तारयतीत्येवं सामान्येनाखिलाञ्जगौ ॥१२॥

जहाँ चिकीर्षापूर्वक तारण होता है वहाँ इष्ट साधनता ज्ञान कारण होता है। तब अच्छे बुरे का विचार होगा। फलतः केवल सज्जनों का तारण होगा सबका नहीं। परंतु महापुरुषों में यह भेद भाव भी नहीं रहता यह सूचित करने के लिए सामान्यरूप से लोकान् सारयति कहा। उससे उनका स्वाभाविक तारण ही सूचित होता है।

ये केऽपि परमं शान्तमविच्छिन्नानुरागिणम्।
उपश्रयन्ति तानेष सर्वांस्तारयते यतिः ॥१३॥

जो भी पास में आता है उसको महापुरुष तार देते हैं।

परिव्रजन् व्रजत्येष यत्र क्वापि यदृच्छया।
तत्र सर्वान् पुनानोऽसौ तारयेद्भवसागरात् ॥१४॥

ॐ

परिव्रजन करते हुए महापुरुष जहाँ कहीं पहुँच जाते हैं वहाँ के सबको वे भवसागर से पार उतारते हैं।

इति मायातरण प्रकरणम्

ॐ

एतावता प्रबन्धेन परमप्रेमलक्षणा।
भक्तिर्निरूपिता सम्यङ् नारदेन महर्षिणा ॥१॥

महर्षि नारद ने यहां तक परमप्रेमलक्षण भक्ति का निरूपण किया।

लक्षणान्तर्भवं प्रेम किंरूपं कीदृशं च तत्।
इति जिज्ञासमानानां तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥२॥

भक्तिलक्षणान्तर्गत प्रेम के स्वरूप का आगे निरूपण है।

ननु पूर्वमपि प्रोक्तमसकृत्प्रेमलक्षणम्।
सत्यं भक्तेर्लक्षणत्वात्सामान्येनोपपादितम् ॥३॥

यद्यपि अमृतस्वरूपा च यत्प्राप्य इत्यादि से प्रेमलक्षण आ जाता है तथापि भक्तिलक्षण होने से वह सामान्यनिरूपण मात्र है।

भक्तौ प्रेम्णश्च मुख्यत्वात्स्वतन्त्रविधयाधुना।
निरूप्यते प्रेमरूपमिति सर्वं समञ्जसम् ॥४॥

भक्ति में प्रेम मुख्य होने से उसका अब स्वतन्त्रनिरूपण है।

तत्रापि प्रथमं तावदनिर्वाच्यतया मुनिः।
अतिलोकोत्तरात्मत्वं व्यञ्जयन्निदमब्रवीत् ॥५॥

उसमें प्रथम अनिर्वाच्यरूप से निरूपण करते हैं। इससे प्रेम की अतिलोकोत्तरता भी व्यञ्जित करते हैं॥

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥५१॥

प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है।

अत्युग्रः कालकूटोऽयं दन्दहीत्यखिलां तनुम् ।
यद्वा पीयूषधारेयं मामाप्याययतेऽनिशम् ॥६॥

यह प्रेम महान् कालकूटविष है सारा शरीर जला रहा है ? अथवा यह अमृत की धारा है शरीर को आप्यायित कर रहा है ॥

अनन्ता नु पिपासेयमनन्ता तृप्तिरेव वा ।
व्याकुलत्वमनन्तं वा ह्यनन्ता शान्तिरेव वा ॥७॥

यह अनन्त प्यास है या अनन्त तृप्ति ? अनन्त व्याकुलता है या अनन्त शान्ति ?

यत्राधर्मोऽपि धर्मः स्यादसत्यं सत्यमेव च ।
अनाचारोऽपि चाचारोऽनादरोऽपि महादरः ॥८॥
असन्तोषोऽपि सन्तोषोऽविनयश्च विनम्रता ।
अज्ञानमेव विज्ञानं विस्मृतिः खलु सस्मृतिः ॥९॥
पराजयो जयो यत्र स्तुतिर्निन्दा तमः प्रभा ।
दुःखं सुखं व्ययो लाभो लाघवं गौरवं भवेत् ॥१०॥
वियोगो यत्र संयोगो मरणं यत्र जीवनम् ।
अनुत्कर्षो महोत्कर्षो निषेधश्च विधिर्भवेत् ॥११॥
मौनमप्युत्तरं यत्र निग्रहोऽनुग्रहस्तथा ।
असतीत्वं सतीत्वं चासन्तः सन्तस्तथैव च ॥१२॥
अगर्वत्वं सगर्वत्वं सकामत्वमकामता ।
अकीर्त्तिर्यत्रकीर्त्तिः स्यान्नतिरुन्नतिरेव च ॥१३॥

जहां अधर्म असत्यादि धर्मसत्यादि बन जाते हैं ।

तस्य निर्वचनं कुर्यात्सहस्रवदनोऽपि कः ।

ततः प्रेमस्वरूपं तदनिर्वाच्यमिति स्थितम् ॥१४॥

उस प्रेम का भला सहस्रवदन भी निर्वचन कर सकेगा ? अतः प्रेमस्वरूप अनिर्वचनीय है यह सिद्ध होता है।

अवाङ्मनसगम्यत्वमिह तावद्विवक्षितम् ।
मनसा मनुते यत्तद्वाचाऽभिवदतीत्यतः ॥१५॥
मूकास्वादनसूत्रार्थो यथा स्यात्तत्प्रवक्ष्यते ।
न मनोगम्यता तेन मतात्र ब्रह्मजन्मनः ॥१६॥

यहां वाणी और मन इन दोनों की अविषयता विवक्षित है क्योंकि श्रुति कहती है जिसको मन से सोचते हैं उसको वाणी से बोलते हैं। अग्रिम मूकास्वादन सूत्र में भी मनोविषयत्व नहीं बताया है। उसका अर्थ वहीं हम बतायेंगे।

* प्रेमतत्त्वं विजानाति ममान्तर्मुखितं मनः ।
तत्त्वावान्तिकतश्चित्तं वैदेहि विवशं मम * ॥१७॥
अत्र भङ्ग्यन्तरेणोक्तं मनोऽगम्यत्वमेव हि ।
विवशं त्वत्समीपस्थं नैवान्तर्मुखितं भवेत् ॥१८॥

हे जानकि ! मेरा अन्तर्मुख मन प्रेमतत्त्व को जानता है। पर वह तुम्हारे पास आकर विवश हो गया है। इस रामोक्ति में मनोऽगम्यत्व ही सूचित होता है। विवश हो जानकीसमीपस्थ होने से कभी अन्तर्मुख बन ही नहीं सकता।

न चान्तर्मुखितं स्याच्चेत्कदाचिदिति सांप्रतम् ।
तदा क्व प्रेम वैदेह्याऽमसत्त्वाज्ज्ञायतां कथम् ॥१९॥

यदि यह कहें कि वैदेही से हटकर कदाचित् अन्तर्मुख होने पर राम प्रेमतत्त्व को जान लेवे, तो यही उत्तर कि वैदेही से हटने पर प्रेम कैसा रह जायेगा ?

यद्यप्येकान्ततः प्रेम मनसो नास्त्यगोचरः ।
तथापि दभ्ररूपं हि मनसा तस्य गम्यते ॥२०॥

यद्यपि प्रेम सर्वथा मन का अविषय नहीं है तथापि मनोविषय रूप तो दभ्र अर्थात् अल्प होता है ।

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवेति हि श्रुतिः ।
अदभ्रं रूपमाचष्टे वागाद्यविषयं हरेः ॥२१॥

'यदि मन्यसे' इत्यादि श्रुति हरि के अदभ्ररूप को वाणी मन आदि का अविषय बताती है ।

अदभ्रं ब्रह्मणो रूपं मूर्त्तं प्रेम हरिः स्वयम् ।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति तन्मूर्त्ततोक्तितः ॥२२॥

अदभ्रब्रह्मरूप ही मूर्त्त होने पर प्रेम कहलाता है वही हरि है । यह गीतावचन से सिद्ध है ।

प्रेम मूर्त्तं परं ब्रह्म स एव भगवान् हरिः ।
पुञ्जीभूतं प्रेम हरिर्गोपिकानामिति स्मृतेः ॥२३॥

मूर्त्त परब्रह्म ही प्रेम है वही हरि है । यही बात 'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां' से भी बतायी है ।

अमूर्त्तमेव मूर्त्तं यत् परमेवापरं तथा ।
तद्वाङ्मनसयोः कस्य गोचरं भवितुं क्षमम् ॥२४॥

अमूर्त्तब्रह्म का मूर्त्तरूप प्रेम है परब्रह्म का अपररूप हरि है ये सब मन और वाणी का विषय किस प्रकार बन सकते हैं ।

तस्मादभ्रं समाचष्टां प्रेमतन्मनुतामपि ।
अदभ्रं तदनिर्वाच्यममन्तव्यं च मन्महे ॥२५॥

ॐ

इसलिये अल्परूप वाणी और मन का विषय भले हो किंतु प्रेम का भूमरूप तो मनवाणी का अविषय ही है।

ॐ

नन्वनिर्वचनीयत्वं मिथ्यात्वमिति केचन।
मा भूत्तथार्थविभ्रान्तिरिति दृष्टान्त उच्यते ॥१॥
सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं न प्रेम समुपेयते।
सद्रूपं तदवोचाम न मायावन्मृषा यतः ॥२॥

अनिर्वचनीय शब्द का अर्थ कोई मिथ्या करते हैं। प्रेम सदसद्रूप से अनिर्वाच्य नहीं है। वह सद्रूप है। अतः अर्थभ्रान्ति न हो एतदर्थ दृष्टान्त कहते हैं।

वागाद्यगोचरत्वं च तस्याकलयितुं क्षमम्।
रूपोपलक्षणेनेति दृष्टान्तोऽयमुदीर्यते ॥३॥

और प्रेम स्वरूप का उपलक्षण होने पर उसकी वागाद्यविषयता समझ में आ सकती है। अतोऽपि दृष्टान्त कहते हैं।

मूकास्वादनवत् ॥५२॥

मूकास्वादन के समान प्रेम है।

मूकमास्वादनं यद्वत्तद्वत्प्रेम भवत्यदः।
भजनं नाम रसनमिति ह्युपनिषद्वचः ॥४॥

मूकरूप से आस्वादन के समान प्रेम होता है। अतएव भजनं नाम रसनं ऐसा उपनिषद् में कहा है।

अन्येन्द्रियाणि संहृत्य मध्वाद्यास्वादनं चिरम्।
तन्मूकास्वादनं नाम रसानुभवविग्रहम् ॥५॥

धेनवो भुक्तमावर्त्त्य निमीलितविलोचनाः ।
रसमास्वादयन्त्येतत्प्रेम्णः प्रोक्तं निदर्शनम् ॥६॥

अन्य इन्द्रियों को व्यापारशून्य कर केवल मधु आदि का रसास्वादन मूकास्वादन है। जैसे गायें जुगाली करती हुई आँखें बंदकर रसास्वाद लेती हैं।

यथा स्त्रिया परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम् ।
इति श्रुत्या तथैवोक्तमास्वादनकलेवरम् ॥७॥

'यथा स्त्रिया संपरिष्वक्तः' इत्यादि श्रुति में भी ऐसा ही रसास्वाद को सूचित किया है।

इन्द्रियाऽव्यापृतेरेव तस्यानिर्वचनीयता ।
ततोऽप्यधितरां नामास्वादनं प्रेमलक्षणम् ॥८॥

रसश्चास्वादनं चेति द्वयमन्यत्र दृश्यते ।
अत्र द्वयोरेकतेति प्रेम्ण आस्वादनोपमा ॥९॥

इन्द्रियव्यापार न होने से ही अनिर्वचनीय है। प्रेमरूपी आस्वादन तो सर्वोत्तर होने से सर्वथा अनिर्वचनीय है। रस और रस का आस्वादन अन्यत्र दो होते हैं। यहाँ तो दोनों एक हैं। अतः प्रेम को आस्वादन की उपमा दी।

प्रतिक्षणं नवनवा भवेदास्वादनक्रिया ।
एक एव रसस्तावन्मध्वादिषु तथेक्षणात् ॥१०॥

प्रेमैकरसमप्येव नित्यं नवनवं भवेत् ।
एकं सदपि नानेति स्पष्टानिर्वचनीयता ॥११॥

आस्वादन क्रिया प्रतिक्षण नूतन होती किन्तु रस एक होता है यह मधु आदि में देखा गया है। प्रेमस्थल में रस तथा आस्वादन

एक होने से एक रस भी नवनव एक भी नाना हो जाता है अतः अनिर्वचनीयता स्पष्ट है।

यत्त्वत्राहुः प्रेम नाम मूकस्य गुडभोजनम्।
तन्न मूकेन नो शक्यं वक्तुं घटपटाद्यपि ॥१२॥

गूंगेने गुड खाया, पर बोल नहीं सकता वैसा ही प्रेम है ऐसी व्याख्या ठीक नहीं है। कारण गूंगा गुड का रस क्या घटपटादि को भी तो नहीं बोल सकता।

आम्रेक्षुगुडमध्वादिमाधुर्याणि पृथक् पृथक्।
स जिह्वेनापि शक्यन्ते न वक्तुमिति हि स्थितिः ॥१३॥

और आम, ऊख, गुड़, मधु आदि का नाना माधुर्य जिह्वावाला भी पृथक् पृथक् नहीं कह सकता।

मूको गुडं समास्वाद्य यथान्तस्तुष्टिमाप्नुयात्।
न किंचित्पारयेद्वक्तुं तथात्रेत्यपरे जगुः ॥१४॥

ॐ

गूंगा गुड खाकर अंदर से खुश हो जाता है कुछ बोल नहीं पाता। वैसे ही प्रेम में भी है ऐसी भी व्याख्या करते हैं।

ॐ

नन्वनिर्वचनीयस्य नोत्पत्तिः शक्यसाधना।
इन्द्रियाऽव्यापृतेरेव सामग्र्या अनिरूपणात् ॥१॥
न चास्वादनवत्प्रोक्तपरिष्वङ्गवदेव वा।
सामग्रीभिः समुत्पत्तिः प्रेम्णः स्यादिति सांप्रतम् ॥२॥
यतो रसैकगात्रत्वं वक्तुं दृष्टान्त ईरितः।
अदृष्टान्तेऽपि दृष्टान्तो बालबोधनहेतवे ॥३॥

अनिर्वचनीय प्रेम की उत्पत्ति किस प्रकार हो ? उसकी सामग्री का निरूपण दुःशक्य है। पहले आस्वादन और स्त्रीपरिष्वङ्ग का दृष्टान्त दिया। वह अनिर्वचनीय होने पर भी सामग्रीजन्य है उसी प्रकार अनिर्वचनीय प्रेम भी सामग्रीजन्य क्यों नहीं हो सकता ऐसा कोई कहे तो उसका जवाब यह है कि उक्त दृष्टान्त रसमात्रस्वरूप बतलाने के लिये ही है। वस्तुतः प्रेम के लिये कोई दृष्टान्त संभव नहीं है। दृष्टान्त बालबुद्धिव्युत्पत्तिमात्रार्थ कहा गया है।

न च मास्तु तदुत्पत्तिः स्वयं सिद्धं हि तन्मतम्।
तदा प्रकाशः सर्वेषां कथं प्रेम्णो न जायते ॥४॥

यदि कहें कि उसकी उत्पत्ति नहीं होती है वह स्वयं सिद्ध है, तो सबको प्रेम प्रकाश क्यों नहीं प्राप्त होता ?

न च ब्रह्मवदेवास्य मन्ये नित्यप्रकाशताम्।
इति वाच्यं यतो ब्रह्म प्रतिबोधं हि बुध्यते ॥५॥
न परिच्छिन्नरूपेणाप्येवं प्रेम प्रकाशते।
अविनाभाविता चापि ब्रह्मवन्नास्य गम्यते ॥६॥
यदि नित्यप्रकाशं न ब्रह्मसर्वप्रकाशकम्।
जगदन्धं प्रसज्येत शून्यवादस्तथापतेत् ॥७॥
यत्सत्तयैव सत्सर्वं यत्प्रकाशात्प्रकाशते।
अविनाभाविता तेन ब्रह्मणा जगतः खलु ॥८॥

यदि कहा जाय कि प्रेम ब्रह्म के समान स्वयं प्रकाश है तो इसका जवाब यह कि ब्रह्म प्रतिबोध विदित होता है वैसे प्रेम का प्रकाश कहां होता है। जगत् ब्रह्म के अविनाभावी है। ब्रह्म न हो तो जगत् अन्धकारमय होगा शून्यवाद आ जायेगा। ब्रह्म सत्ता से जगत् की

सत्ता है ब्रह्मप्रकाश से जगत् का प्रकाश है ऐसी अविनाभाविता प्रेम में कहा है।

मैवं प्रेमापि सर्वत्र सामान्येन प्रकाशते।
अविनाभावितास्यापि बहुधा श्रुतिषु श्रुता ॥९॥
को ह्येवान्यादुतप्राण्यादानन्दो नैष चेद्भवेत्।
आनन्दाद्ध्येव जीवन्ति जायन्ते संविशन्त्यपि ॥१०॥

इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि ब्रह्म के समान प्रेम भी सामान्यरूप से सर्वत्र प्रकाशित होता है। प्रेम की अविनाभाविता भी श्रुति सिद्ध है। यदि आनन्द न हो तो कौन जीयेगा। आनन्द से ही सब जीवित है उसी से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होते हैं।

न भुञ्जीत न वीक्षेत न जिघ्रेच्छृणुयात्स्पृशेत्।
यदि प्रेम भवेन्नार्थे स्वात्मन्येवान्ततो नृणाम् ॥११॥

खाना पीना आदि सभी वस्तुओं में अनन्तः आत्मा में प्रेम होने से ही संभव है (ईश्वरीयसृष्टिमात्र का यहां उपलक्षण जानना)।

ईषदावृतिरेवास्ति ब्रह्मणः सच्चिदात्मनः।
विस्पष्टं खण्डशस्तेन प्रतिबोधं विबुध्यते ॥१२॥

सच्चिद्रूपी ब्रह्म का ईषदावरण है अतः प्रतिबोध आवरण भंग से खण्डशः ब्रह्म का स्पष्ट भान होता है।

खण्डशोऽपि न विस्पष्टं प्रेमरूपं परेशितुः।
भासते रसकल्लोलं घनान्धतमसावृतम् ॥१३॥
अत एव समाचख्युः केचिद्वेदान्तकोविदाः।
आनन्दमात्रं पिहितं ब्रह्मणो न तु सच्चिती ॥१४॥

परन्तु भगवान् का प्रेमरूप खण्डशः भी स्पष्ट भासित नहीं होता क्योंकि वह घनीभूत आवरण से आवृत है। अतएव कुछ वेदान्ती

भी यही मानते हैं कि ब्रह्म का आनन्दांश ही आवृत है सत्-चिदंश नहीं।

आनन्दः प्रेमरूपोऽयं वस्तुत्वाद्रसविग्रहः ।
तत् सत् प्रकाशते चेति सच्चिती धर्मवद्द्वयम् ॥१५॥

वेदान्तमत से फरक यही कि आनन्द प्रेमरूप है आनन्द वस्तु है। सत् और चित् उसके धर्मसदृश है।

आनन्दोऽस्तीति भातीति ताद्धर्म्यं स्पष्टमोच्यते ।
तस्मादानन्द एवेष्टो वस्तु वस्तुतया हि नः ॥१६॥
न पुनर्लौकिकं भेदं मन्महे धर्मधर्मिणोः ।
सर्वं चैतद्विस्तरशो ह्यधस्तादुपपादितम् ॥१७॥

आनन्द है भासता है इस प्रकार अस्ति भाति आनन्द के धर्म है। अतः वस्तु तो आनंद है। परंतु अस्ति भाति रूपी धम का और आनन्दरूपी धर्मी का कोई लौकिक भेद नहीं है यह बात विस्तार पूर्वक पहले बतायी जा चुकी है।

अविनाभावविभावं यत् सामान्येन प्रकाशते ।
कल्पते न तदुत्पत्तिः किं तर्हीति तदुच्यते ॥१८॥

जो अविनाभावविभाव सिद्ध है अथ च सामान्यरूप से प्रकाशमान भी है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। तो कैसा ? यह कहते हैं:—

प्रकाशते क्वापि पात्रे ॥५३॥

वह प्रेम किसी पात्र में ही प्रकाशित होता है।

प्रकाशते क्वापि पात्रे प्रयते कृपया हरेः ।
विशेषावृतिभङ्गेन प्रेम नाम विशेषतः ॥१९॥

हरिकृपा से पवित्र हुए किसी पात्र में विशेषावरणभङ्ग से प्रेम

विशेषरूप से प्रकाशित होता है।

पात्रशब्दोऽत्र योग्यत्वमपात्रेभ्यश्च दीयते।
इत्यादिवद् बोधयति प्रकाशस्य प्रयोजकम् ॥२०॥

अपात्रेभ्यश्च दीयते इत्यादि वचनों में पात्र शब्द से जैसे योग्यता बोधित होती है वैसे यहां भी है। वह योग्यता प्रेम प्रकाशन में प्रयोजक कारण है।

केचिदत्र महात्मानः पात्रतायाः प्रयोजकम्।
कामक्रोधादिदोषाणां राहित्यं संप्रचक्षते ॥२१॥

न च वाच्यं प्रेमभक्त्या काम क्रोधादि नश्यति।
इति शास्त्रप्रसिद्धत्वादन्योन्याश्रयता भवेत् ॥२२॥

यतः साधनभक्त्यैव कामक्रोधादिवारणम्।
प्रेमभक्तिः परानन्दा न कार्यं नापि कारणम् ॥२३॥

कुछ महात्माओं ने यह माना है कि पात्रता का प्रयोजक कामक्रोधादि दोषाभाव है। प्रेम भक्ति से काम क्रोधादि नाश होता है ऐसा मत ठीक नहीं है। क्योंकि साधन भक्ति से ही कामादि दोष नाश हो सकता है। प्रेमभक्ति न कार्य है और न कारण ही है। अतः अन्योन्याश्रयता नहीं है।

परे प्रबुद्धयोग्युक्ता धर्मा भागवता हि ये।
तद्वत्त्वमेव मन्यन्ते पात्रतायाः प्रयोजकम् ॥२४॥

इत्थं च लेशकामादि सत्त्वं न प्रेमरोधनम्।
प्रेम प्रकाशितं रोद्धुं कामादेरिति मन्वते ॥२५॥

अन्य महात्माओं की मान्यता है कि प्रबुद्धयोगी के बताये हुए भागवतधर्म ही पात्रता का प्रयोजक है। लेश कामादि प्रेम का प्रति-

बन्धक नहीं है बल्कि प्रेम ही प्रकाशित होने पर लेशकामादि का प्रतिबन्धक है नाशक है।

अभिमानविहीनत्वं परमं दैन्यमेव च।
पात्रत्वहेतुरित्याहुरन्ये भागवता जनाः ॥२६॥
अभिमानं हरिर्द्वेष्टि दैन्यं प्रीणाति च प्रभुः।
तस्मादीशकृपावाप्तिरुक्तपात्रे हि गम्यते ॥२७॥

अन्य भागवतजनों का कहना है कि निरभिमानिता और परम दीनता ही पात्रता का कारण है। क्योंकि भगवान् अभिमान से द्वेष करते हैं और दैन्य को पसंद करते हैं उक्त पात्रता होने पर हरिकृपा होगी और प्रेम प्राप्त होगा।

पात्रेऽपि न हि सर्वत्र किन्तु क्वापि प्रकाशते।
मुख्यं तत्र निमित्तं हि यतो हरिकृपा मता ॥२८॥
अनुयोज्या न सा क्वापि स्वतन्त्रा भगवत्कृपा।
अतिदुर्लभता चैवं प्रेम्णः प्रोक्ता महर्षिणा ॥२९॥

पात्रों में भी सर्वत्र प्रेम प्रकाशित नहीं होता, किन्तु कहीं कहीं प्रकाशित होता है! क्योंकि प्रेम प्रकाशन में मुख्यनिमित हरिकृपा ही है पात्रता नहीं, और भगवत्कृपा स्वतन्त्र क्यों इत्यादि अनुयोग का विषय नहीं है। इस से प्रेम की अतिदुर्लभता महषि बता रहे हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
इत्येवं कवयः प्राहुर्भक्तिलक्षणकोविदाः ॥३०॥

भक्ति क्लेशनाशिनी है शुभदायिनी है मोक्ष को भी लघु बनाती है, सुदुर्लभ है ऐसे पण्डित लोग कहते हैं।

ददामि कर्हिचिन्मुक्तिं भक्तियोगं स्म नो ददे।

श्रीमद्भागवतेऽप्येवं दौर्लभ्यं प्रकटीकृतम् ॥३१॥

मैं कदाचित् मुक्ति भले दूं पर भक्ति नहीं देता इस भगवत वचन से भी भक्ति की दुर्लभता स्पष्ट है।

नन्वग्रे वक्ष्यतेऽन्यस्माद्भक्तेः सुलभतेति चेत्।

सत्यं तत्र तु वक्ष्यामः पाताभावादि कारणम् ॥३२॥

यद्यपि आगे सूत्रकार स्वयं भक्ति को अन्य साधनापेक्षया सुलभ बतायेंगे। तथापि सुलभता में कारण पतनाभावादि है यह हम आगे वहीं स्पष्ट करेंगे।

प्रकाशते दृश्यते तत् क्वापि पात्रे महात्मनि।

नृत्यन् गायन् हसन् माद्यन् यो हरिं परिषेवते ॥३३॥

इत्येवमपरे व्याख्यामस्य सूत्रस्य कुर्वते।

तच्चिन्त्यं दर्शनस्योक्तेरप्रयोजनता यतः ॥३४॥

नाचते गाते हरिसेवा करनेवाले किसी महात्मा में यह प्रेम देखने में आता है ऐसा सूत्रार्थ कुछ लोग करते हैं परंतु प्रेम कहीं कहीं देखने में आता है इस प्रकार कहने का कोई प्रयोजन नहीं है अतः वह व्याख्या चिन्त्य है।

पात्रशब्दस्य वैयर्थ्यमपि तत्र मते स्फुटम्।

नीलपीतादिकं चापि क्वाप्येव किल दृश्यते ॥३५॥

उक्त व्याख्या में पात्र शब्द की भी सार्थकता नहीं है। और नीलापीला आदि रंग भी कहीं कहीं देखने में आता है इस कथन से नीलपीतादि की क्या विशेषता सिद्ध होगी।

पात्रत्वं यत्नतः प्राप्यं प्राप्या च भगवत्कृपा।

ततः प्रकाशते नाम परं प्रेम सुदुर्लभम् ॥३६॥

ॐ

इसलिये यहां तात्पर्य यह है कि प्रयत्न से पात्रता प्राप्त करने की कोशिश करें। हरिकृपा की भी प्रतीक्षा करते रहें उस से सुदुर्लभ भी परम प्रेम प्रकाशित होगा।

इति प्रेम्णोऽनिर्वचनीयत्वनिरूपणम्।

ॐ

नन्वीदृशमविज्ञातं प्राणिनां प्रेम भाति नः।
तत्र कस्य प्रवृत्तिः स्यादज्ञातविषये खलु ॥१॥

न च सामान्यतस्तस्य प्रकाश इति युज्यते।
पात्रे प्रकाशमानं क्व सामान्येन प्रकाशताम् ॥२॥

न च चोदनया तत्र प्रवृत्तिरिति सांप्रतम्।
अनिर्वाच्ये कथंकारं नोदना संप्रवर्त्तताम् ॥३॥

न चाज्ञातेऽप्यदृश्यत्वान्नोदनाऽविषयेऽपि च।
ब्रह्मणीव प्रवृत्तिः स्यात्प्रेमणीत्यपि सांप्रतम् ॥४॥

सामान्येन हि विज्ञातं ब्रह्म स्वात्मा ह्यसौ यतः।
विशेषेण तदज्ञानात्प्रवृत्तिश्चोपपद्यते ॥५॥

पूर्वपक्ष यह उठता है कि ऐसा अनिर्वचनीय प्राणियों के लिये अविज्ञात ही प्रतीत हो रहा है। अज्ञात उस प्रेम में किसकी प्रवृत्ति होगी। सामान्यरूप से प्रेम प्रकाशित होता है ऐसा कहना भी समंजस नहीं है। क्योंकि जो केवल किसी पात्र में प्रकाशित होता है वह सामान्यरूप से सर्वत्र प्रकाशित होता है कहना जचता नहीं है। हरि भजेत्' इत्यादि विधि वाक्य से अज्ञात प्रेम में प्रवृत्ति हो सकती है, यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनिर्वचनीय अर्थ में विधि

की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह कहें कि विधि के अविषय ब्रह्म में जिस प्रकार प्रवृत्ति होती है वैसे प्रेम में भी हो सकेगी तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म सामान्यरूप से ज्ञात है। क्योंकि ब्रह्म आत्मस्वरूप है (अहं इस प्रकार उसकी प्रतीति सबको होती है)।

अत्रोच्यते न च प्रेम सर्वथाऽविदितं नृणाम्।
छायारूपेण मोहादौ तत्स्वरूपावबोधनात् ॥६॥
छायाचित्रात्मनान्योन्यस्वरूपमुपलभ्य हि।
सकुतूहलमाशीर्भिः प्रवर्त्तेते वधूवरौ ॥७॥
एतावांस्तु विशेषः स्याद् ब्रह्म साक्ष्यात्मना परम्।
बुद्ध्यते न पुनः प्रेम शुद्धं लोकैः प्रतीयते ॥८॥
छायारूपमपि प्रेमानिर्वाच्यमनुभूयते।
तच्चानुभवरूपं चेद्वक्तव्यं खलु किं परे ॥९॥
ज्ञातवादिरमाधुर्यः श्रुत्वैवाशब्दगोचरे।
परमं मधुरं मध्वित्येवं तस्मिन् प्रवर्त्तते ॥१०॥
इत्याशयेन देवर्षिरन्यव्यावृत्तयेऽपि च।
अनिर्वाच्यमपि प्रेमस्वरूपमिदमब्रवीत् ॥११॥

उत्तर यह है कि प्रेम सर्वथा अविदित नहीं है छायारूप से उसका स्वरूप मोहादि में देखा जा सकता है। फोटो देखकर भी वधू और वर परस्पर प्राप्त्यर्थ प्रवृत्त होते हैं। ब्रह्म में और प्रेम में विशेषता यही है कि ब्रह्म छायारूप से तथा साक्षीरूप से भी प्रकाशित होता है। पर, प्रेम तो छायारूप से ही लोगों को दीखता है। छायारूप भी प्रेम अनिर्वचनीय है अनुभवरूप है तो परप्रेम की बात ही क्या है। हां शब्द का अविषय भी वाणी से कहा जा सकता

है। जैसे किसी ने बैर की मीठास चखी हो उसको मधु परममधुर है इस प्रकार बोधित किया जा सकता है। इस आशय से और अन्य मोहादि की व्यावृत्ति के लिये देवर्षि प्रेम का स्वरूप कह रहे हैं—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥५४॥

प्रेम गुणरहित एवं कामनारहित होता है। वह प्रतिक्षण बढता रहता है कभी टूटता नहीं है। अत्यन्त सूक्ष्मरूप एवं अनुभवरूप होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
नाप्राकृते परप्रेम्णि संभाव्यन्ते कथंचन ॥१२॥

श्रीमद्भगवद्गीता में सत्त्व रज और तम रूपी गुणों को प्रकृति संभव बताया है। अप्राकृत प्रेम इन गुणों की संभावना नहीं हो सकती।

शान्ता घोराश्च मूढाश्च ये भावा दृष्टिगोचराः।
अप्राकृता एव तेऽपि प्राकृतत्वपराकृतेः ॥१३॥

यद्यपि भक्तों में भी कदाचित् शान्त, घोर एवं मूढ भाव देखने में आते हैं परन्तु वे भी अप्राकृत होने से गुणान्तर्गत नहीं हो सकते।

उन्मत्तवद्दृश्यमानो नोन्मनो वस्तुतो यथा।
शान्तादिवद्दृश्ययानो नैव शान्तादिभावभाक् ॥१४॥

जैसे भक्त उन्मत्त (पागल) जैसे भले दीखें किन्तु उन्मत्त नहीं होता वैसे शान्तादि रूप से दीखने पर भी वस्तुतः शान्तादि भाववाला नहीं होता।

एतेनामानिताद्याश्च सुखदुःखादयश्च ये ।
व्याख्याताः सर्व एवापि भावा भक्तजनास्थिताः ॥१५॥

इस उक्ति से भक्तजनस्थित अमानित्वादि गुण और सुख दुःखादि की भी व्याख्या हो जाती है ।

* कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥१६॥
वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥१७॥
सात्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥१८॥
सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥१९॥
सात्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थंतु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् * ॥२०॥
अत्र सर्वत्र नैर्गुण्यं दिव्यत्वादुपपद्यते ।
प्राकृतावरणाद्दिव्यं प्राकृतत्वं प्रपद्यते ॥२१॥

कैवल्य ज्ञान सात्त्विक है वैकल्पिक ज्ञान राजस है प्राकृत ज्ञान तामस है भगवद् ज्ञान निर्गुण है । वनवास ग्रामवास, द्यूतसदनवास और भगवन्मन्दिरवास क्रमशः सात्त्विकादि हैं । इसी प्रकार असङ्ग-कारक, रागान्धकारक, स्मृतिभ्रष्टकारक और भगवन्निष्टकारक ये चार अध्यात्मश्रद्धा, कर्मश्रद्धा, अधर्मश्रद्धा, और भगवत्सेवा श्रद्धा ये चार आत्मसुख, विषयसुख, मोहादिसुख और भक्तिसुख ये चार भी क्रमशः सात्त्विकादि स्वरूप हैं । सर्वत्र दिव्य होने से निर्गणता है ।

कहीं प्राकृत से आवृत होने पर दिव्य भी प्राकृत सा हो जाता है।

निर्गुणाः सर्व एवैते प्रेमरूपा हि सम्मताः।
यतो न भावनामात्ररूपत्वं तस्य मन्महे ॥२२॥

भगवद्ज्ञान भगवन्मन्दिरादि सभी प्रेमरूप ही है। क्योंकि प्रेम कोई भावना रूप ही नहीं है।

प्राकृतावरणात्कामं भगवन्मन्दिरादिषु।
विभासन्तां गुणाः किन्तु निर्गुणास्तत्वतस्तु ते ॥२३॥

भगवन्मन्दिरादि में प्राकृतावरण से भले गुण भासें, पर, वस्तुतः वे निर्गुण ही हैं।

तादात्म्येन गुणाभावः प्रेमणीशगृहादिषु।
तादात्म्येनेतरत्रैष सांख्यशास्त्रप्रसिद्धितः ॥२४॥

प्रेम में तथा प्रेम रूप हरिमन्दिरादि में तादात्म्यसम्बन्ध से गुणों का अभाव है। अन्य सर्वपदार्थ में तादात्म्येन गुण रहते हैं। सांख्यशास्त्र में यह प्रसिद्ध है।

नन्वेवं गुणतादात्म्यशून्यं प्रेमास्तु प्रेमिषु।
शान्तादयो गुणात्मानः स्युर्भावाश्चात्र का क्षतिः ॥२५॥
मैवं यत्तदभिन्नात्स्यादभिन्नं तदभेदि तत्।
गुणतादात्म्यवत्स्थस्य गुणतादात्म्यमापतेत् ॥२६॥

यदि गुण रहित का अर्थ है तादात्म्य सम्बन्ध से गुण रहित है तो प्रेमियों में प्रेम भी और सत्त्वादि गुण भी हो सकते हैं। क्योंकि प्रेम में तादात्म्येन गुणाभाव तो है ही। (और सिद्धान्ततः तो प्रेमियों में सत्त्वादि गुण होते ही नहीं है) इस का उत्तर यह है कि तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वं ऐसा नियम होने से गुण तादात्म्यवान् भक्त के

तादात्म्यवाले प्रेम सें भी गुणतादात्म्य होगा। यदि भक्त में गुण रहेंगे।

उद्भूते परमप्रेम्णि भक्तो दिव्यत्वमाप्नुयात्।
प्रेमरूपे च भक्तेऽस्मिंस्तादात्म्येन कथं गुणः ॥२७॥

दूसरी बात प्रेम प्रकाशित होने पर भक्त भी दिव्य प्रेम रूप हो जाता है। उससें तादात्म्य सम्बन्ध से गुण किस प्रकार हो ?

सामानाधिकरण्येन गुणशून्यं परे जगुः।
गुणाऽप्रयोज्यमिति तु केचिदर्थं प्रचक्षते ॥२८॥
शान्तादयो भवन्त्वस्मिन कियत्कालं महात्मनि।
नहिते बाधकाः प्रेम्णि भगवत्करुणोद्गते ॥२९॥
प्रवर्धमाने ते प्रेम्णि क्रमशो यान्तु दिव्यताम्।
शापोऽप्यनुग्रहस्तेन देवर्ष्यादेर्विलोकितः ॥३०॥

सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से गुण रहित ऐसा भी अर्थ करते हैं। दूसरों का कहना है कि गुण रहित का अर्थ है गुणों से अप्रयोज्य। अतएव भक्तों में गुण भी रह सकते हैं। प्रेम के बढ़ने पर वे ही गुण फिर दिव्य हो जाते हैं। अतएव नारदादि का शाप भी नलकूबरादि के लिये अनुग्रहरूप होता था।

गुणानपेक्षं प्रमेति केचिद् व्याचक्षते पदम्।
गुणादिमनपेक्ष्यैव माता प्रीणाति यत्सुतम् ॥३१॥
रूपसौन्दर्यसौशील्यविद्याविनयितादयः।
प्रसिद्धा गुणशब्दार्थ इति तावत्तदाशयः ॥३२॥
तदसत् प्रस्तराद्यै च प्रमोत्पत्तिप्रसङ्गतः।
अनन्तगुणसम्पन्नो भगवानिति च स्थितिः ॥३३॥

प्रेम गुण की अपेक्षा नहीं रखता माता पुत्र में गुणापेक्षा किये विना ही प्रेम करती है इस प्रकार कुछ लोग यहां अर्थ करते हैं। उनका मतलब यह कि यहाँ गुण पद का सौन्दर्य सौशील्य विनयादि गुण अर्थ है। परंतु ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है। कारण गुणापेक्षा यदि न हो तो पत्थर मिट्टी आदि में ही प्रेम क्यों नहीं करते। भगवान में ही क्यों करना? और सिद्धान्त में भगवान् अनन्त-गुण सम्पन्न हैं। अतएव भगवान में प्रेम होता है।

नन्वेवं गुणसंभूतं प्रेम नैमित्तिकं भवेत्।
निमित्तस्य विनाशे च तन्नाशोऽपि भवेदिति ॥३४॥
नैवं भगवतो नित्या दिव्याश्चाभिमता गुणाः।
ततो निमित्तनाशस्य नैव शङ्कोपपद्यते ॥३५॥

प्रेम गुण जन्य हो तो निमित्तनाश होने पर प्रेम नाश भी होगा इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि भगवद्गुण नित्य होने से निमित्त-नाशशंका ही कैसे उठ सकती है।

लोके तु गुणनाशेन प्रेमनाशोऽपि जायते।
न प्रेम मोह एवायमिति चेत्त्वं सुखी भव ॥३६॥
किमर्थं गुणनाशेन प्रेमनाशं विशङ्कसे।
हरेर्गुणानां नित्यत्वाल्लोके मोहैकनिश्चयात् ॥३७॥

लोक में तो गुणनाश से प्रेमनाश होता ही है। यदि कहें लोक में प्रेम नहीं होता मोह होता है अतः उसका नाश उचित है तब आप सुखी रहो प्रेमनाश की शंका क्यों करते हो? क्यों कि निमित्तनाश से प्रेमनाश होगा इस में उदाहरण लौकिक प्रेम देना होगा और लौकिक प्रेम तो प्रेम ही नहीं है। तथा हरिगुण नित्य है उसके नाश की संभावना भी नहीं है।

यं कश्चिद्गुणमालोक्य प्रेमाभिव्यज्यते सताम् ।
अभिव्यक्ते गुणापेक्षा नास्तीत्यन्यत्कथान्तरम् ॥३८॥

प्रथम गुण देखकर प्रेम हुआ बाद में गुण की अपेक्षा नहीं रही यह बात जुदी है।

मातुः सुतेऽपि सम्बन्धबुद्ध्या प्रेमोपजायते ।
विलुप्यते च तत्प्रेम तदभावाद्भवान्तरे ॥३९॥

माता का भी पुत्र में यह मेरा पुत्र है ऐसी संवन्ध बुद्धि से ही प्रेम होता है। अत एव जन्मान्तर में संबन्धबुद्धि न होने से प्रेम भी नहीं रहता।

अनाद्यनन्तकालेऽस्मिन् यस्मिन्कस्मिन्भवेऽपि वा ।
मातृपुत्रादिसम्बन्धः सर्वेषामेव संभवेत् ॥४०॥

अनादि अनन्त काल में पता नहीं कितनी वार पुत्र बने और कितनी बार उसी मां के बाप भी बने होंगे।

सम्बन्धाद्यनपेक्षत्वे कुतो बालान्तरे न तत् ।
तस्मात्सापेक्षमेवैतदभिव्यक्तौ हि मन्महे ॥४१॥

सम्बन्धादि की अपेक्षा न हो तो दूसरे बालकों के प्रति प्रेम क्यों नहीं होता। अतः मातृप्रेम भी सापेक्ष ही है।

अभिव्यक्तौ हि सापेक्षं नोत्पत्तौ नित्यविग्रहम् ।
परं प्रेमेत्यवोचं प्रागिति तत्रैव वीक्ष्यताम् ॥४२॥

नित्य परम प्रेम अभिव्यक्ति में ही सापेक्ष है, उत्पत्ति में नहीं।

तत्र दिव्यगुणापेक्षः प्रेम श्रीहरिगोचरः ।
यः प्राकृतगुणापेक्षो मोहोऽसौ क्षणभङ्गुरः ॥४३॥

भगवत्प्रेम दिव्यगुणापेक्ष है। और प्राकृत गुणापेक्ष प्रेम तो मोह

है और वह क्षणभङ्गुर भी है।

न वस्तुनि गुणाः सन्ति गुणाः प्रेम्णीति गीः सताम् ।
प्रेम लौकिकमादाय न तु श्रीहरिगोचरम् ॥४४॥

वस्तु में गुण नहीं होते गुण तो प्रेम में होते हैं इत्यादि सन्तवचन लौकिक प्रेम को लेकर है, न कि भगवत्प्रेम को लेकर (क्यों कि भगवान् में सभी गुण विद्यमान है)

ननु दोषा गुणायन्ते यस्मिन् प्रेमणि निर्मले ।
प्रयोजकस्तस्य गुणो न बुद्धिमधिरोहति ॥४५॥

मैवं प्रेमोत्तरं दोषा गुणायन्ते न पूर्वतः ।
प्रवर्धमानस्वाभाव्यात्तस्य तद्युज्यतेतराम् ॥४६॥

प्रेम होने पर दोष भी गुण दीखने लगते हैं उस प्रेम के प्रति गुण प्रयोजक कैसा यह समझ में नहीं आता इस प्रश्न का उत्तर यह कि प्रेम होने के बाद दोष गुण होने लगते हैं। पहले नहीं। प्रेम का बढ़ने का स्वभाव है। अतः बाद में दोष भी गुण दीखें तो ठीक ही तो है।

अभिव्यक्तं परं प्रेम न गुणान् समपेक्षते ।
गुणराहित्यमेतद्धीत्यपरे व्याचचक्षिरे ॥४७॥

अभिव्यक्त प्रेम गुणों की अपेक्षा नहीं रखता ऐसी भी व्याख्या गुणरहितं इस पद की कुछ लोग करते हैं।

कामनारहितत्वं च तादात्म्येनैव पूर्ववत् ।
सामानाधिकरण्येन प्रयोजकतयापि वा ॥४८॥

'कामना रहितं' इस पद की व्याख्या भी पूर्ववत् तादात्म्येन कामनारहित कर लेना चाहिये। सामानाधिकरण्येन कामनारहितं प्रयोजकतया कामनारहितं ऐसा भी अर्थ संभव है।

ननु कामादिकं कार्यं तस्मिन्नेवेति वक्ष्यते।
कामना रहितं प्रेम कथमत्रोपवर्ण्यते ॥४६॥
नैवं कामादिकार्यत्वं प्राह भावानुवृत्तये।
संपिपादयिषोः प्रेम न तु सिद्धस्य तत्तथा ॥५०॥

यद्यपि आगे कामादि भगवान में ही करें ऐसा कहेंगे। तब कामाभाव कैसा? तथापि आगे नित्यभावानुवृत्ति के लिये साधनरूप से भगवान में कामादि करने के लिये बताया है, सिद्ध के लिए नहीं अतः पूर्वापर विरोध नहीं है।

नन्वत्र गुणराहित्यकथनेनैव कामना।
निवर्त्तते पुनः प्राह कामनारहितं कुतः ॥५१॥

पूर्वपक्षः—गुणरहित कथन से ही कामना रहित अर्थ भी प्राप्त हो सकता है क्योंकि कामना त्रिगुणान्तर्गत है।

तत्पदार्थे गुणाभावस्त्वं पदार्थे त्वकामना।
इति तु प्रोक्तयुक्त्यैव प्रत्युक्तत्वान्न किंचन ॥५२॥

कुछ लोगों का कहना है कि गुण रहितं यह तत्पदार्थ को लेकर है और कामना रहितं यह त्वं पदार्थ को लेकर है। अर्थात् प्रेमास्पद में गुण आवश्यक नहीं और, प्रेमी में कामना नहीं रहती। परंतु यह कथन संगत इसलिए नहीं है कि हम पहले ही कह आये हैं कि भगवान में अनन्त गुण हैं और भगवद्गुण प्रयुक्त ही भगवत्प्रेम है।

निर्गुणे कामनाऽयोगात्स्वतस्तद्व्यतिरेकतः।
कामनारहितत्वोक्तिस्तन्मतेनाप्यनर्थिका ॥५३॥

दूसरी बात निर्गुण से कामना ही क्या रखेंगे। अतः कामना का अभाव स्वतः सिद्ध होने से उक्त मत में भी कामनारहित्त कहने का कोई फल नहीं है।

न च मोक्षादिकामः स्यान्निर्गुणादिति सांप्रतम् ।
मोक्षप्रदायितात्मा हि गुणस्तर्हि प्रसज्यते ॥५४॥

निर्गुण से भी मोक्ष, कामना से प्रेम हो सकता है, कहें तो मोक्ष-दायित्वरूपी गुण आ गया। तब गुणानपेक्षता कहाँ रही ?।

नहि स्वरूपसौन्दर्यप्रभृतिर्हि गुणो भवेत् ।
इभ्यपुत्र्यां कुरूपायामर्थिनः प्रीति दर्शनात् ॥५५॥

रूप सौन्दर्यादि ही गुण नहीं है अपितु मोक्षसुखादि दातृत्व भी गुण है। अतएव कुरूपा भी सेठ की पुत्री से अर्थी की प्रीति रहता है।

किं च क्रोधादिराहित्याकथनान्न्यूनता भवेत् ।
गुणसांनिध्यतो दोषरहितं युज्यते वचः ॥५६॥

कामनारहितं ही क्यों कहा ? क्रोधादि रहितं भी कहना चाहिये था। गुणरहितं के साथ दोषरहितं पढ़ते तो और अच्छा होता।

अत्र ब्रूमः कामनात्मा प्रेमेति किल केचन ।
बभ्रमुस्तन्निवृत्त्यर्थं कामनारहितं जगौ ॥५७॥

इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि कुछ लोग कामना को ही प्रेम समझते हैं। इस भ्रान्ति के वारण के लिए कामनारहितं कहा।

सा न कामयमानेति पूर्वोक्तत्वात्पुनः कुतः ।
कामनारहितं वक्तीत्येतेन प्रतिचोदितम् ॥५८॥

अतएव 'सा न कामयमाना' इस प्रकार पहले कह चुके हैं अब दुबारा यह कहने की क्या आवश्यकता इसका भी उत्तर हो गया है।

न च तादात्म्यतः प्रेम्णि गुणराहित्यमीरितम् ।
ततश्च कामनात्मत्वं न प्राप्नोतीति सांप्रतम् ॥५९॥
सिद्धे तत्कामनात्मत्वे गुणराहित्यशब्दतः ।

बुध्येत　　कामनाभिन्नगुणराहित्यमर्थतः ॥६०॥

यदि कहें कि तादात्म्येन गुणाभाव कथन से प्रेम की कामनारूपता प्राप्त ही नहीं होती, तो ठीक नहीं। कारण यदि कामनारूपता निश्चित है तो गुणरहितं से कामनातिरिक्त गुणरहितं ऐसा अर्थ स्वभावतः प्रतीत होता ॥

तथा हि कतिचित्प्रेष्ठप्राप्तीच्छां प्रेम मन्वते।
नान्या स्पृहा रघुपत इति व्यावृत्तिदर्शनात् ॥६१॥

प्रेम को कामनारूप कैसे मानते हैं इसे कुछ स्पष्टरूप से देखें— कुछ लोगों का कथन है कि प्रेष्ट भगवान् की प्राप्ति की इच्छा ही प्रेम है। अतएव नान्या स्पृहा रघुपते यहाँ रघुपति से अन्य की इच्छा का अभाव कहा।

समञ्जस विहाय त्वा न काङ्क्ष इति वृत्रगीः।
मय्यर्पितात्मेच्छति न मद्विनान्यदितीशगीः ॥६२॥
मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुरिति कृष्णस्तथोद्धवम् ॥६३॥

समञ्जसत्वा इत्यादि भागवतवचन में भी कामना ही प्रेम है ऐसा प्रतीत होता है।

नन्वेवमुक्तवचनैः कामना सिद्ध्यतीति चेत्।
मैवं प्रेमैव सर्वत्रवचने कामशब्दितः ॥६४॥

तब फिर इन्हीं भागवतादिवचन से प्रेम कामनारूप सिद्ध क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर यह कि इन सब वचनों में प्रेम को ही काम स्पृहादि शब्द से कहा है। लौकिक कामना को नहीं।

क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।
प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम् ॥६५॥

प्रेम में और काम में क्रिया एक सरखी मालूम पड़ेगी परंतु प्रेम में काम नहीं होता। गोपिकाओं में प्रेम था उसी की कामशब्द से प्रसिद्धि हुई।

इत्यादिवचनेष्वेतत्सद्भिः स्पष्टीकृतं मुहुः।
क्रोधादिवद्दिव्यरूपा कामना तूपगम्यते ॥६६॥

उपरोक्त वचनों से सन्तों ने प्रेम में कामाभाव स्पष्ट किया है। हाँ दिव्य क्रोधादि भक्तों में होते हैं यह पहले बताया, जैसे नारदजी ने नलकूबर और मणिग्रीव को श्राप दिया उसी प्रकार दिव्य कामना भी मानी जाती है।

भगवद्विषयः कामः प्रेमैव महतां मतम्।
जगद्विषयवत् क्वापि दिव्यो हीति विविच्यताम् ॥६७॥

महानों (गोपिकादि) का भगवद्विषयक काम तो प्रेम ही है और कहीं जगद्विषयक सा काम है वह दिव्य काम है यह विवेक है।

* न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते * ॥६८॥
इत्यत्र सूचितं चैतद्बीजं हि जनकं मतम्।
बीजाभासत्ववत्कामाभासत्वमिह सिद्ध्यति ॥६९॥

भक्तों में जगद्विषयक कामना देखने में आयेगी। परंतु वह वस्तुतः काम नहीं कामाभास मात्र है, इसमें यह भागवत वचन द्रष्टव्य है कि—मुझमें जिनका चित्त अर्पित हो गया है उनका काम काम ही नहीं है जैसे भुने हुए या उबाले हुए बीज बीज नहीं होते। बीज का अर्थ है अंकुर जनक। जब जनकता नहीं रही तब उसे बीज कहना केवल आकार को लेकर ही है, वस्तुतः नहीं।

* अहं त्वकामस्त्वद्भक्त * इति प्रह्लादगीरपि।

कामान्यत्वं प्रेमभक्तेः प्रतिबोधयति स्फुटम् ॥७०॥

मैं अकाम हूँ और आप का भक्त हूँ इस प्रह्लादवचन से भी स्पष्ट है कि काम और भक्ति अलग है। अन्यथा अकाम कहकर त्वद्भक्त कहना विरुद्ध होगा।

*यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् * ॥७१॥

अत्र कामेतरत्वं च कामाभासत्वमेव च।
प्रह्लादवचनात्प्रेम्णि प्रकटं परिलक्ष्यते ॥७२॥

हे भगवन्! यदि आप वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वरदान चाहता हूँ कि मेरे हृदय में चाहों की उत्पत्ति ही न हो इस प्रह्लादवाक्य में काम में कामाभासता और प्रेम में कामेतरता प्रकट है।

लौकिक्यां कामनायां स्यात्स्वार्थसिद्धेः प्रधानता।
दिव्यायां तु नहि स्वार्थगन्धोऽपीत्यपरा भिदा ॥७३॥

लौकिक कामना में स्वार्थसिद्धि की प्रधानता रहती है। दिव्य कामना में स्वार्थगंध भी नहीं होता यह विशेषता है।

नन्वैकाधिकरण्येन तादात्म्येनापि मा स्म भूत।
प्रयोजकतया प्रेम्णि कामना किं न संभवेत् ॥७४॥

कामान् कामयमानो हि भेजे विष्णुं ध्रुवोऽध्रुवान्।
ततोऽप्यलभत प्रेम स खल्वित्यतिरोहितम् ॥७५॥

सत्य कामयमानो हि ध्रुवः ववृते ध्रुवम्।
नारदोद्दिष्टभगवन्नामाद्यैः म तूदभूत ॥७६॥

सामानाधिकरण्येन और तादात्म्येन प्रेम में कामना नहो, तथापि

प्रयोजक के रूप में कामना हो सकती है। कामना से ही ध्रुव को भक्ति प्राप्त हुई थी। इस शंका का उत्तर यह, कि भले ही ध्रुव कामना से तप में प्रवृत्त हुए हों, पर प्रेम तो नारदप्रोक्त भगवन्नामादि से ही हुआ।

लौकिकीं कामनां कामं गुणानपि च लौकिकान् ।
प्रवृत्तौ मन्यतां बीजं न तु प्रेम्णीति हि स्थितिः ॥७७॥
अन्यथासिद्धमित्याहू रासभादि घटं प्रति ।
तथैनामन्यथासिद्धां मन्महे कामनां वयम् ॥७८॥

लौकिक कामना ही क्या लौकिक गुणों को भी प्रवृत्ति का बीज मानिये, किन्तु घट के प्रति रासभादि के समान प्रेम के प्रति वे अन्यथा सिद्ध है।

ननु दिव्यगुणानां स्यादन्यथासिद्धता तथा ।
तदसत तत्प्रयुक्तत्वं शास्त्रेणैवावगम्यते ॥७९॥
*आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥८०॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः* ॥८१॥
अत्र श्लोकद्वयं स्पष्टं प्रयोजकतया गुणाः ।
उत्पत्तौ चानुवृत्तौ च वृद्धौ च प्रेम्ण ईरिताः ॥८२॥

यदि कामना प्रेमोत्पत्ति में अन्यथा सिद्ध हैं तो गुण भी अन्यथा सिद्ध क्यों नहीं ? भले वह हरि में दिव्य हीं ऐसी शंका अयुक्त है। कारण, आत्मारामाश्च इत्यादि दो श्लोकों में प्रेम की उत्पत्ति, अनुवृत्ति और वृद्धि के प्रति हरिगुणों को प्रयोजक बताया है।

वर्धते सततं प्रेम शौक्लो शशिकला यथा ।
पूर्णिमा तु न तत्रास्ति तदानन्त्याय कल्पते ॥८३॥

प्रेम सतत बढता है, जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कला विशेषता यही कि यहाँ पूर्णिमा नहीं होती, प्रेम की वृद्धि अनन्तरूप है ।

दोषोऽपि गुणरूपेण यत्र नामावलोक्यते ।
निर्दोषलेशरूपे तत् प्रेम नोनयितुं क्षमम् ॥८४॥

प्रेमाभास में भी दोष भो गुगरूप दीखते हैं तो दोषलेश रहित हरि में प्रेम के न्यून होने की कथा संभावना ।

असत्यवागनीशत्वं चौर्यमुच्छिष्टभक्षणम् ।
अपारकरुणासिन्धोः प्रेमलीलाखिला हरेः ॥८५॥

कभी असत्य बोलना, असमर्थता, चोरी, झूठन खाना इत्यादि हरि के दोष नहीं थे कि अपारकारुण्यसिन्धु भगवान की प्रेम लीला थी ।

क्षणं बृंहन् क्षणं लुम्पन् न प्रेमाविनिगद्यते ।
प्रतिक्षणं वर्धमानः प्रेमातोऽन्यद्विडम्बनम् ॥८६॥

क्षण में बढा क्षण में घटा यह प्रेम नहीं है। प्रेम तो प्रतिक्षण बढ़ता है। घटने बढने वाला तो विडम्बन अर्थात् प्रेमाभास है।

ननु प्रेम्णः कथं वृद्धिः शाश्वतस्याविकारिणः ।
वर्धमानस्य विच्छेदः सस्यादेरिव संभवेत् ॥८७॥

किं चावयवहीनस्यावयवोपचयात्मिका ।
न वृद्धिः किन्तु पूर्वस्य नाशश्चोत्कृष्टजन्म च ॥८८॥

यथा मुहुः स्मृतिवशात् पूर्वसंस्कारनाशतः ।
संस्कारान्तरमुत्कृष्टं तत्र हानिजनी ध्रुवे ॥८९॥

अत्राहुस्तदभिव्यक्तेरुत्कर्षादुत्तरोत्तरम् ।
प्रेम वर्धत इत्याह भगवान् ब्रह्मणः सुतः ॥९०॥
तत्रावरणभङ्गः स्यादभिव्यक्तिर्न सा पृथक् ।
आवृतिर्विविधानेका लुम्पेत् प्रायः क्रमेण सा ॥९१॥
लुप्ता नावर्त्तते पश्चात्प्रेम्णो न न्यूनता ततः ।
लुप्यतेऽन्यावृत्तिश्चेति बृंहतीति निगद्यते ॥९२॥
तदिदं समभिप्रेत्यानित्यत्वविनिरस्तये ।
अविच्छिन्नमिति प्राह प्रेमाणमृषिपुङ्गवः ॥९३॥

पूर्वपक्ष यह कि अविकारी नित्य प्रेम की वृद्धि कैसी। अवयवोपचयादि रूपी वृद्धि भी निरवयव प्रेम की संभव नहीं है। पूर्वप्रेम का नाश उत्कृष्ट प्रेमान्तर की उत्पत्ति कहना भी उचित नहीं हैं। इस का उत्तर यह कि प्रेम की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर बढती है। अनेक विध आवरण है उन का क्रमशः नाश ही अधिकाधिक अभिव्यक्ति है। नष्ट आवरण फिर नहीं आता अतः प्रेम न्यून नहीं होता, अन्य आवरण नष्ट होता रहता है अतः बढता है ऐसा कहा जाता है। इसी आशय से आगे अविच्छिन्नं यह विशेषण है।

अन्ये तु पूर्वपूर्वेभ्य उत्कृष्टतरमुद्भवेत् ।
उत्तरोत्तरतः प्रेम सेयं वृद्धिरितीर्यते ॥९४॥
पूर्वपूर्वं भवेद्धेतुरुत्तरोत्तरजन्मनि ।
अविच्छिन्नं ततः प्रोक्तमिति व्याचक्षते बुधाः ॥९५॥

दूसरे विद्वानों का कहना है कि पूर्वपूर्व प्रेम से उत्कृष्टतर उत्तरोत्तर प्रेम उत्पन्न होता है। यही प्रेम की वृद्धि है। और पूर्वपूर्व कारण होने से विच्छेद भी कभी नहीं होता।

परे प्राहुरनिर्वाच्ये प्रेम्णि तर्कयसे मुधा ।
अपि नित्यं वर्धतां तन्नारदोक्तिप्रमाणतः ॥९६॥

अन्य भक्तजनों का कहना है कि अनिर्वचनीय प्रेम के बारे में व्यर्थ तर्क क्यों करते हो । वह नित्यनिर्विकारी है और बढता भी है । यही तो उसकी अनिर्वचनीयता है । इस में यह नारदोक्ति ही प्रमाण है ।

जन्मान्तरे मातृपितृपुत्रकान्तादयोऽखिलाः ।
भिद्यन्ते पूर्वजन्मीयं प्रेम विच्छिद्यते ततः ॥९७॥

पहले जन्म के माता पिता पुत्र पत्नी आदि सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं तो पूर्वजन्मीय प्रेम भी विच्छिन्न हो जाता है ।

अत एव न तत्प्रेमपदयोग्यमपीष्यते ।
यन्न विच्छिद्यतेऽनन्तकालान्तं प्रेम तत्स्मृतम् ॥९८॥

अतएव प्रेम ही नहीं है । जो विच्छिन्न नहीं होता वही प्रेम है ।

*नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि * ॥९९॥
भ्रमेयं यत्र कुत्रापि योनौ कर्मवशः प्रभो ।
त्वं स्वामी सेवकोऽहं स्यामेतद्याचे भवत्पदोः ॥१००॥
पञ्चत्वं वपुषो यातोऽजिरे खं व्यजनेऽनिल ।
तेजोऽस्तु मुकुरे तस्य कं स्याद्वाप्यां मही सृतौ ॥१०१॥
इत्यादिभक्तवाणीषु प्रेम भङ्गयन्तरोदितम् ।
जन्मान्तरानुवर्त्तित्वादविच्छिन्नं हि गम्यते ॥१०२॥

हजारों योनियों में भटकूं भले ही, पर हे भगवन् आप के चरणों में मेरी नित्यरति हो । मेरे मरने पर पांच भौतिक शरीर का

आकाश प्रेष्ठ के आंगन में मिल जाय, वायु पंखे में, तेज दर्पण में, जल उनके तालाब में और पृथ्वी उनके मार्ग में। इत्यादि भक्त-वचनों में प्रेम की ही प्रकारान्तर से प्रार्थना है। वही जन्मान्तराविच्छेदी है।

परेऽखण्डप्रवाहित्वमविच्छित्तिं जगुर्बुधाः।
तथैव कपिलाद्युक्तैर्यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥१०३॥

अटूटधारा अविच्छेद का अर्थ है गंगा जल जिस प्रकार अनवरत समुद्र में पड़ता रहता है इस कपिलाद्युक्त दृष्टान्त से यह अर्थ प्रतीत होता है ऐसा भी विद्वानों का मत है।

प्रवर्धमानमपि तत्सूक्ष्ममेवावतिष्ठते।
अदृश्यं स्थूलदृग्भिश्च स्थूलहृद्भिश्च देहिभिः ॥१०४॥

वह प्रेम बढता है फिर भी सूक्ष्म रहता है। स्थूल दृष्टिवाले और स्थूल हृदयवाले उसे देख नहीं सकते और समझ भी नहीं सकते।

ननु ज्ञानादयः सर्वे सूक्ष्मा एव मताः सताम्।
अन्तःकरणधर्मत्वात् विशेषः प्रेम्णि कः पुनः ॥१०५॥
न चैषा मनसो वृत्तिर्नेत्युक्तमिति सांप्रतम्।
चैतन्यात्मज्ञानमपि न वृत्तिरिति यत् समम् ॥१०६॥
अत्रोच्यते सूक्ष्मतरो विभेदः प्रेममोहयोः।
इति वक्तुं सूक्ष्मतोक्ता न तु ज्ञानाद्यपास्तये ॥१०७॥

पूर्वपक्ष यह कि ज्ञानादि भी सूक्ष्म है तब प्रेम में कौन सी नयी विशेषता है। उत्तर यह कि प्रेम और मोह का सूक्ष्म भेद कहने के लिये 'सूक्ष्मतर' विशेषण है, न कि ज्ञानादि व्यावृत्ति के लिये ॥

आत्मप्रीतिर्भवेत् प्रेमाऽनात्मप्रीतिस्तथेतरः ।
हरिप्रीत्यभिलाषाद्यः काम इन्द्रियतर्पणम् ॥१०८॥
प्रेमा श्रीकृष्णसंभोगः स्वसंभोगस्तथापरः ।
उज्ज्वलं भवति प्रेम कामोऽन्धतमसं पुनः ॥१०९॥
त्यागप्रधानता प्रेम्णि कामे भोगप्रधानता ।
प्रेमातिपावनं कामः सर्वथाऽपावनोऽशुचिः ॥११०॥
अन्तर्मुखयति प्रेम बहिर्मुखयतीतरः ।
असमोर्द्ध्वं भवेत् प्रेम सबाधः काम एव च ॥१११॥
एवं स्थितेषु भेदेष्वप्यहो लोका न जानते ।
ततः सूक्ष्मतरं प्रेमेत्युक्तमत्र महर्षिणा ॥११२॥

प्रेम आत्मप्रीति है, काम मोह अनात्मशरीरादि प्रीति है । हरि-प्रीत्यभिलाषा प्रेम में, इन्द्रिय तृप्ति काम में, श्रीकृष्ण सुख प्रेम है स्वसुख काम है । प्रेम उज्ज्वल होता है काम अन्धकारमय होता है । प्रेम में त्याग की प्रधानता है काम में भोग की प्रधानता है । प्रेम परमपावन है काम सर्वथा अपवित्र है । प्रेम से अन्तर्मुखता होती है काम से बहिर्मुखता होती है । प्रेम सर्वोत्कृष्ट है काम सर्वापकृष्ट है । इतना भेद होने पर लोग उसे नहीं पहचान पाते अतः नारदजी ने प्रेम को सूक्ष्मतर बताया ।

अणोरणीयानिति च श्रुतेः सूक्ष्मतरात्मता ।
हरिस्वरूपिणः प्रेम्णः सिद्धा चात्र निगद्यते ॥११३॥
न च सूक्ष्मतरत्वं तु ज्ञानस्यापीति सांप्रतम् ।
खण्डप्रकाशस्तस्योक्तो न तु प्रेम्णस्तथाविधः ॥११४॥

हरिरूप प्रेम को 'अणोरणीयान्' यह श्रुति भी सूक्ष्मतर कहती

है। वह भी यहां ग्राह्य है। ज्ञान भी सूक्ष्मतर है यह पूर्वपक्ष इसलिये उठ नहीं सकता क्योंकि ज्ञान खण्डशः प्रकाशित होता है प्रेम खण्डशः भी प्रकाशित नहीं होता यह हम पहले कह आये हैं।

अथानुभवरूपं तत् किमर्थमभिधीयते।
मूकास्वादनदृष्टान्ताद्गतार्थं तत्किलेति चेत् ॥११५॥
अत्रोच्यते दाडिमश्च तद्रूपं च यथा द्वयम्।
प्रेमा च प्रेमरूपं च तथात्रापि द्वयं मतम् ॥११६॥
दाडिमान्न पृथग्रूपं यद्यपि ह्युपगम्यते।
तथापि रूपमात्रं न द्रव्यमित्यप्यवस्थितम् ॥११७॥

मूकास्वादनवत् से ही गतार्थता है फिर सूत्र में अनुभवरूपं यह क्यों कहा? इसका समाधान यह कि जैसे दाडिम (अनार) और उसका रूप अलग है वैसे प्रेम और उसका रूप दो है। यद्यपि दाडिम से रूप अलग है फिर भी रूपमात्र ही द्रव्य तो नहीं है।

ननु रूपी भवेत् कोऽत्र यः किल प्रेमशब्दितः।
यस्य ह्यनुभवो रूपं रूपिणः पृथगीर्यते ॥११८॥
अत्र केचित्समाचख्युरानन्दो रूप्युपेयते।
यथा रसो दाडिमस्य रूपी समुपगम्यते ॥११९॥
न चैवं दाडिममिव फलमन्यदुदीर्यताम्।
यतो रसात्मकमिदं फलमित्यप्युपेयते ॥१२०॥
रसं चापि फलं चापि प्रादुर्भावावतं ततः।
श्रीमद्भागवतारम्भे भिद्यते तेन न द्वयम् ॥१२१॥

अनुभव यदि प्रेम का रूप है तो रूपी कौन? इसका समाधान कुछ लोग यह कहते हैं, आनन्द ही रूपी है। जैसे दाडिम का रस तब

रस के समान फल भी अलग होगा ? नहीं यहां फल और रस एक अत एव भागवत में पहले फलं रसं इस प्रकार कहा।

वैशेषिकादयः केचित् पुरुषार्थं सदूचिरे।
दुःखध्वंसेन सद्रूपमात्रावस्थानलक्षणम् ॥१२२॥

वैशेषिकादि का कहना है आत्यन्तिक दुःखध्वंस होने पर केवल सद्रूप आत्मा रहता है यही पुरुषार्थ है।

एवं पुनः प्रस्तरादौ पुमर्थीसे च का भिदा।
तस्माच्चिद्रूपतापि स्यादिति सांख्याः प्रचक्ष्यरे ॥१२३॥

वैशेषिकों के मुक्त पुरुष और पत्थर में कोई फरक नहीं रहता है अतः चिद्रूपता भी माननी चाहिये यह सांख्य मत है।

चिद्रूपत्वेऽपि किं तेन प्रस्तरत्वेऽपि का क्षतिः।
तस्मात्स्वर्गः पुमर्थः स्यादिति मीमांसका जगुः ॥१२४॥

चेतन होकर रहा तो कौन सी विशेषता है ? पत्थर होकर पड़ा रहे तो क्या बिगड़ा, अतः स्वर्ग सुख पुरुषार्थ है यह मीमांसक मत है।

स्वर्गोऽपि क्षणिकं सौख्यं पुरुषार्थः कथं भवेत्।
नित्यानन्दात्मविज्ञानं मोक्षं वेदान्तिनस्ततः ॥१२५॥

क्षणिकसुखरूपी स्वर्ग भी कैसा पुरुषार्थ ? अतः नित्यानन्दात्म-विज्ञान ही मोक्ष है यह वेदान्तमत है।

ज्ञानं मुख्यं भवेत्तेषां ज्ञानिनस्तांस्ततो जगुः।
उपसर्जनमेव स्यादानन्द इति गम्यते ॥१२६॥

वेदान्त मत में ज्ञान मुख्य है आनन्द उपसर्जन है। इसीलिये उनको ज्ञानी कहते हैं।

विज्ञानमपि रूपं तन्न रूपीत्यभ्युपेयते।

आभासमात्रं रूपे स्या द्रूपिणो न तु रूपिता ॥१२७॥
न चाभासोऽपि रूपे न रूपिणोऽस्तीति शङ्क्यताम् ।
एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्तीति श्रुतत्वतः ॥१२८॥
रसरूपे रसाभासस्तस्मात्तृप्यन्ति देवताः ।
एवं रसाभासयुताज्ज्ञानात्तृप्यन्ति पण्डिताः ॥१२९॥
अनाभासरसो मुख्यः पुमर्थः प्रेमलक्षणः ।
तस्योपसर्जनं ज्ञानमिति भक्ताः प्रचक्षते ॥१३०॥

विज्ञान भी रूप है रूपी नहीं है अतः अनुभवरूपं यह कहा ज्ञानात्मक रूप में रूपी (रस) का आभास मात्र होता है वह स्वयं रूपी नहीं होता। रूप में रूपी का आभास भी किस प्रकार ? क्या भोजन का रूप देखने से पेट भरेगा ? ऐसी शंका मत करो, कारण श्रुति में बताया है कि देवता अमृत (छान्दोग्यवर्णित) को देखकर ही तृप्त होते हैं। रूप देखा जाता है यदि उसमें रूपी का आभास न हो तो तृप्ति कैसी ? अस्तु ज्ञान रूप है प्रेम रसरूपी है। वही रूपी प्रेम रस ही जिसका ज्ञान (अनुभव) उपसर्जन है, मुख्य पुरुषार्थ है। यह भक्तों का सिद्धान्त है।

नन्वानन्दस्वरूपत्वे निर्वाच्ये प्रेमलक्षणे ।
कुतोऽनिर्वचनीयं तत्प्रमेत्यूचे पुरेति चेत् ॥१३१॥
उच्यते यः प्रसिद्धोऽयमानन्दो लोकवेदयोः ।
ततस्तु पृथगेवायमानन्दः प्रेमसंज्ञितः ॥१३२॥
प्रतिक्षणं प्रणावता यत्रानन्देऽनुभूयते ।
स प्रेमा तादृगानन्दो वेदान्तेषु न वर्णितः ॥१३३॥
मोक्षेऽप्याभासमात्रं स्याद्रूपे ज्ञाने रसस्य यत् ।

सर्ववेदान्तगम्यं तदनिर्वाच्यं ततः परम् ।
सजातीयनवत्वं च न प्रेमण्युपगम्यते ।
किन्तु सोत्कर्षनवता निर्वाच्या सा कथं भवेत् ॥१३४॥
प्रतिक्षणं वर्धमानमित्येवं तत एव हि ।
सूत्रकारो जगादात्र सोत्कर्षनवतापरः ॥१३५॥

यदि प्रेम आनन्दात्मक है तब अनिर्वचनीय उसे क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि लोक वेद प्रसिद्ध आनन्द से यह अलग है। प्रतिक्षणनवनवस्वरूप आनन्द वेदान्त में कहां बताया है ? मोक्ष में ज्ञानात्मक रूप में रस का आभास मात्र है वही वेदान्तोक्त है। जिसमें सजातीयनवता ही नहीं अपितु सोत्कर्षनवता है उसका निर्वचन हो भी कैसे ? इसीलिये सूत्रकार ने प्रतिक्षणवर्धमान कहा। सोत्कर्षनवनवभाव ही उसका अर्थ है।

एतेनानुभवात्मत्वे शब्दमात्रभिदा भवेत् ।
भक्तौ ज्ञाने च नान्येति शङ्कापि सुसमाहिता ॥१३६॥

ॐ

इससे इस शंका का भी समाधान हो गया है कि यदि भक्ति अनुभवात्मक है तब भक्ति और ज्ञान में शब्दभेदमात्र है। समाधान का रहस्य पहले आ गया है कि भक्ति रसरूपी है और ज्ञान रूप है।

ॐ

नन्वस्य गुणहीनत्वे जीवतो नैव संभवः ।
त्रिगुणात्मा भवो यस्माज्जीवता दुरपाकरः ॥१॥
नैवं प्रेममयं सर्वं यदा भक्तस्य जायते ।
त्रिगुणात्मा क्व संसारो योऽपाकार्यतयोच्यते ॥२॥

इत्याशयं हृदि दधद् भगवान् ब्रह्मणः सुतः।
प्राह तन्मयतामेवानिर्दिशन् नामतस्तु ताम् ॥३॥
स्वयं च गुणहीनं तन्निर्गुणं तनुते जगत्।
अविभागस्थितिं चैवं फलरूपां प्रभापते ॥४॥

यदि प्रेम गुणहीन हो तो जीवितावस्था में संभव नहीं दीखता त्रिगुणात्मक संसार जीवित पुरुष का नहीं हट सकता। इसका उत्तर यह कि प्रेम होने पर सारा संसार प्रेममय हो जाता है त्रिगुणात्मक संसार रहता कहां, उसको हटाने का सवाल ही क्या? इस आशय से अगले सूत्र में तन्मयता बताने जा रहे हैं। दूसरी बात स्वयं गुणहीन प्रेम सारे संसार को निर्गुण बना देता है। वहां फिर सात्त्विक राजस तामस और निर्गुण यह विभाग कहां? इसी फल स्थिति को कह रहे हैं :—

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ॥५५॥

प्रेम प्राप्त कर प्रेमी उसी को देखता उसी को सुनता उसी को बोलता और उसी को सोचता है।

तत्प्राप्य परमं प्रेम तत्प्रेमैवावलोकते।
प्रेमास्पदं प्रेम चेति न द्वैतमवतिष्ठते ॥५॥

प्रेम प्राप्त होने पर सर्वत्र प्रेम ही प्रेमी देखता है। प्रेमास्पद और प्रेम यह द्वैत भी नहीं रह जाता।

स्वप्रेमास्पदमेवाहो सर्वत्रैषोऽवलोकते।
संयोगे त्वेकमेवैनं वियोगे तन्मयं जगत् ॥६॥

अथवा तदेव का अर्थ है—प्रेमास्पद को ही प्रेमी सर्वत्र देखता है। संयोगसमय केवल उसी को देखता अन्य को देखता ही नहीं।

और वियोगसमय में जगत् को तन्मय देखता है।

अत्रावलोकनं तावदनुभूतिर्विवक्षिता ।
स्पर्शनास्वादनादीनां तेन न स्यादसंग्रहः ॥७॥
शृणोतीत्यादिकं तत्र निदर्शनतयोदितम् ।
यद्वा मुख्यैर्दर्शनाद्यैरमुख्यमुपलक्ष्यताम् ॥८॥

यहां अवलोकयति से अनुभवमात्र विवक्षित है। अतःस्पृशति आस्वादयति इत्यादि न कहने से न्यूनता नहीं है। अनुभवसामान्यार्थ में शृणोति इत्यादि पृथक्कथन उदाहरणार्थ है। अथवा दर्शन-श्रवणादि मुख्य वता दिथा अमुख्य का वह उपलक्षण है।

अवलोकयतीत्यादौ स्वार्थे णिच्प्रत्ययः कृतः ।
अथवा स्वान्तिकस्थं च दर्शयत्येष तन्मयम् ॥९॥
तन्मयं दर्शयेत्सर्वं यस्तु भक्तिजुषां वरः ।
स्वयं तन्मयदर्शीति सिद्ध्येत्कैमुतिकान्नयात् ॥१०॥

अवलोकयति भावयति इत्यादि में स्वार्थ में णिच् प्रत्यय है। अथवा यह अर्थ है कि अपने समीपस्थ को भी वह जगत् तन्मय दिखाता है। स्वयं तन्मयदर्शी है यह कैमुतिकन्यायसिद्ध है।

तन्नामोच्चारणेऽनिच्छन्नप्यन्न्योऽपि शृणोति तत् ।
ततः श्रावयतीत्येवं न प्रायुङ्क्त णिचं मुनिः ॥११॥

भगवन्नामोच्चारण में अपने आप ही दूसरे सुन लेते हैं अतः श्रावण में खास महत्त्व न होने से णिच्प्रयोग नहीं किया।

वीक्षणं वीक्षिता वीक्ष्यं श्राव्यं श्रोता श्रुतिस्तथा ।
चिन्त्यं चिन्तयिता चिन्ता सर्वं प्रेममयं भवेत् ॥१२॥

प्रेम प्राप्त होने पर त्रिपुटी प्रेममयी हो जाती है।

कुञ्ज श्यामो वनं श्यामं श्यामं वृक्षलतादलम् ।
श्यामला यमुना श्यामं सरः श्यामं सरोरुहम् ॥१३॥
श्यामो मृगमदः श्यामः कण्ठः पुच्छं च बर्हिणः ।
श्यामलः कोकिलः श्यामा गावः श्यामोऽचलः शिलाः ॥१४॥
श्यामं नभो दिशः श्यामाः श्यामं शुभ्रांशुलांछनम् ।
श्यामा दीपशिखा श्यामो मेघः श्यामं च नीलकम् ॥१५॥
श्यामं ब्रह्मजगच्छ्यामं श्यामा नयनपुत्तली ।
सर्वं श्यामं मनः श्याममात्मा श्याममनोहरः ॥१६॥
श्यामः शब्देषु सर्वेषु वक्तृवाच्यतया स्थितः ।
स्पष्टृस्पृश्यतया श्यामः स्पर्शेषु सकलेष्वपि ॥१७॥
श्यामो रूपेषु सर्वेषु द्रष्टृदृश्यतया स्थितः ।
आस्वाद्यास्वादिततया रसेषु सकलेष्वपि ॥१८॥
श्यामो गन्धेषु सर्वेषु घ्रातृघ्रेयतया स्थितः ।
ज्ञातृज्ञेयतया श्यामो ज्ञानेषु सकलेष्वपि ॥१९॥
श्यामः पुरस्तात्पश्चाच्च श्यामः श्यामो हि दक्षिणे ।
श्याम उत्तरतः श्याम ऊर्ध्वं चाधश्च सर्वतः ॥२०॥
अन्तः श्यामो बहिःश्यामश्चरः श्यामोऽचरस्तथा ।
श्यामः सूक्ष्मो बृहच्छ्यामो दूरे श्यामोऽन्तिकेऽपि सः ॥२१॥
भूतंभवद्भविष्यच्च श्यामं श्यामं जगत्त्रयम् ।
त्रिकालातिगतं श्यामं त्वं च श्यामोऽहमेव च ॥२२॥
इत्थं ददर्श सकलं राधा श्यामं स्वमेव च ।

सर्वं राधामयं चैव कृष्णोऽपश्यत्स्वमेव च ॥२३॥

कुञ्ज श्याम है इत्यादि प्रत्यक्षदर्शन में किंचित् अलौकिकता है। श्यामं ब्रह्म इत्यादि शब्दादि बोध विषय वस्तु में श्यमतानुभव अलौकिक है। श्यामः शब्देषु सर्वेषु इत्यादि अलौकिश्यामसाक्षात्कार है। श्यामः पुरस्तात् इत्यादि अतिलोकोत्तर दिव्य श्यामदर्शन है। भूतं भवत इत्यादि अतीन्द्रियातिलोकोत्तर श्यामदर्शन है। श्यामोऽहं यह पराकाष्ठा है। जगत्रयं से विश्वतैजस प्राज्ञादि सभी ग्राह्य है। अन्य अर्थ स्पष्ट है।

तमेव गोप्यः शृण्वन्ति कथयन्ति परस्परम्।

चिन्तयन्ति पुरा प्रेष्ठं प्रेमानन्दरसं प्रभुम् ॥२४॥

तन्मात्रावलोकन सर्वोत्कृष्ट है। उसका उदाहरण राधिका है। तन्मात्र श्रवणादि का अब गोपिकाओं का उदाहरण कहा जा रहा है। तमेव इत्यादि से। परस्पर कथनादि का उदाहरण वेणुगीतादि से दे रहे हैं:—

दामोदराधरसुधां धन्यो वेणुः पिबत्यसौ।

अवशेषं हृदिन्यश्च सहर्षाः साश्रमो द्रुमाः ॥२५॥

यह वेणु दामोदर की अधरसुधापान से धन्य हो रही है। अवशेष को नदी द्रुमादि प्राप्त कर सहर्ष और अश्रुवदन ही रहे हैं।

धन्यं वृन्दावनं नाम हरिपादश्रिया युतम्।

नृत्यन्ति वर्हिणा यत्र वेणुं श्रुत्वाऽपरेपि च ॥२६॥

धन्य वृन्दावन है जो हरिपदांकित है जहाँ मोर वेणु सुनकर नृत्य करते हैं।

धन्या हरिण्य आकर्ण्य वेणुं गोविन्दकूजितम्।

सकृष्णसाराः प्रणयवीक्षणैः पूजयन्ति तम् ॥२७॥

हरिणियाँ धन्य हैं जो वेणुवादन सुनकर कृष्णसार मृग के साथ प्रणयवीक्षणरूपी कमलार्चन से गोविन्द की पूजा कर रही हैं।

इमा गावो वेणुनादं निशम्य सहवत्सकाः।
स्तब्धकर्णाः साश्रुनेत्रास्तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥२८॥

गायें धन्य हैं जो बछड़ों सहित वेणुनाद सुनकर स्तब्ध कर्ण और अश्रुपूर्ण नेत्र होकर सानन्द खड़ी हैं।

विहगा मुनयः प्रायः शृण्वन्तो वेणुकूजितम्।
अमीलितदृशस्तस्थुर्विगतान्यगिरस्तरौ ॥२९॥

ये पक्षियें प्रायः ऋषि मुनि है वेणुनाद सुनकर चुपचाप पेड़ पर बैठे रहते हैं।

आवर्त्तलक्षितानङ्गभग्नवेगा हि सिन्धवः।
समालिङ्गन्त्यूर्मिभुजैः साम्बुजैश्चरणौ हरेः ॥३०॥

भँवर से लगता है कि इन नदियों का प्रेमावेश अत्यधिक बढ़ गया है; उनका प्रवाह वेग नहीं रह गया है। तरङ्गरूपी हाथों से जिनमें कमल भी हैं, कृष्ण के चरणों का आलिंगन कर रही हैं।

आतपत्रं दधात्येष मेघः सीकरपुष्पवृट्।
विमानगतयो देव्यो मुह्यन्ति स्मरपीडिताः ॥३१॥

फुहारों के फूलों को बरसाता हुआ यह मेघ छाता पकड़े हुए है। विमानगामिनी देवियाँ प्रेमाविग्न हो मुग्ध हो रही हैं।

कन्दमूलादिभिर्मानमद्रिः सख्युः करोत्यसौ।
अस्पन्दनं गतिमतां तरूणां पुलकोऽप्यहो ॥३२॥

गोवर्धनगिरि कंदमूलों से कृष्ण का सत्कार कर रहा है। जंगमों का स्पन्दन बंद हो रहा है तरुओं को रोमांच हो रहा है।

लताश्च तरवश्चैव सुमनांसि मधूनि च।
विकिरन्ति हरेः पूजां कुर्वाणाः सफलाशिषः ॥३३॥

आशापूर्ण होकर लता और वृक्ष फूल और मधु गिराते हुए हरि-पूजन कर रहे हैं।

सरःसु सारसा हंसा मीलिताक्षा हरिं परम्।
ध्यायन्ति परमप्रेम्णा धृतमौना निरन्तरम् ॥३४॥

सरोवरों में सारस एवं हंस आँख बंद किये मौन होकर परम प्रेम से निरन्तर हरि का ध्यान कर रहे हैं।

मन्दवायुर्मलयजरसाप्यायितविग्रहः।
मानयन्नुपवात्येष श्रीहरेरनुकूलतः ॥३५॥

यह मलयानिल मान रखते हुए हरि के अनुकूल चल रहा है। गोपिकाओं का परस्पर कथन और श्रवण कहकर अब यशोदा माता का विशिष्टचिन्तन उदाहरण के रूप में आगे कह रहे हैं—

उषसि प्रतिभोत्स्यामि मन्थिष्यामि ततो दधि।
हैयङ्गवीनकवले हैमे धास्यामि भाजने ॥३६॥
कृष्णं प्रबोधयिष्यामि स्नपयिष्यामि जीवने।
कवोष्णं पाययिष्यामि कपिलास्तन्यमुत्तमम् ॥३७॥
भूषयिष्यामि विविधैर्भूषणैर्भूषभूषणम्।
धापयिष्यामि रुचिरं बर्हिबर्हं च मस्तके ॥३८॥
भोजयिष्यामि मधुरं नवनीतं नवं नवम्।
इति रात्रिंदिनं माता यशोदा तमचिन्तयत् ॥३९॥

प्रातः मैं उठ जाऊंगी, दही मथूंगी, सोने के प्याले में माखन रखूंगी, कृष्णकन्हैया को जगाऊंगी, सुंदर जल में नहलाऊंगी, थोड़ा

थोड़ा गरम कपिलादुग्ध पिलाऊंगी, कन्हैया का श्रृंगार करूगी, मस्तक पर मोर पंख सजाऊगी, बढ़िया माखन खिलाऊंगी इस प्रकार यशोदा माता दिन रात भगवान के बारे में ही सोचती रहती थी। अब राधिका का परम श्रवण भाषण और चिन्तन देखिये:—

श्रीकृष्णे मथुरां याते सायं प्रातश्च राधिका।
अट्टालिकासु तिष्ठन्ती शुश्राव प्रत्यहं कलम् ॥४०॥

भगवान कृष्ण मथुरा गये तो राधिका अपने नियमानुसार प्रातः और सायं मकान की छत पर जाती। और गाय चराने जाते समय और चराकर आते समय जो वेणु भगवान बजाया करते थे उसी आवाज को राधिका गगन में सुनती रही।

वेणुस्वरं सुमधुरं बालालापं सुधोपमम्।
शृण्वतीवानिशं राधा बभौ योगीव तन्मया ॥४१॥

सुमधुर वेणुनाद और अमृतोपम हरि का बालालाप निरन्तर सुनती हुई जैसी राधा तन्मय हो योगी जैसी शोभायमान हुई।

पुरस्तादिव तिष्ठन्तं प्रेष्ठमक्ष्णा पिबन्त्यसौ।
राधा बभाषे किमपि विरहव्याकुला हरिम् ॥४२॥

मानो कि हरि सामने ही खड़े हैं, आंख से मानो वह पान कर रही है और राधा विरहव्याकुल होकर हरि को कुछ बोल रही है।

राधा मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम्।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वा तमब्रवीत् ॥४३॥

राधिका भ्रमर को देखकर कृष्णसंगम का ध्यान करती हुई उसे प्रियप्रेषित दूत समझ कर बातें करने लगी।

इत्येवं बहुधा दिव्यं तत्र तत्र प्रदर्शितम्।
वीक्षणं श्रवणं चैव भाषणं ध्यानमेव च ॥४४॥

इस प्रकार शास्त्रों में तत्र तत्र दिव्य दर्शन श्रवण भाषण एवं चिन्तन दिखाया है।

* स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् *।
इत्युक्तं चिन्तयतिना दर्शितं मुनिनोभयम् ॥४५॥

ॐ

भगवान का स्मरण करते और कराते-ये दोनों यहां चिन्तयति का अर्थ है।

इति मुख्यप्रेमनिरूपणम्।

ॐ

गुणैर्विरहितं प्रेमेत्यधस्तात् प्रतिपादितम्।
तर्हि किं गुणवृत्तीनां प्रेम नैवोपजायते? ॥१॥
प्रेमाभावे पुनर्भक्तिः क्व भवेत्प्रेमलक्षणा।
सत्त्वादिप्रकृतीनां च भक्तिः शास्त्रेषु वर्ण्यते ॥२॥
अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम् ॥३॥
सात्त्विको मोक्षकामोऽन्यकामौ राजसतामसौ।
अकामो निर्गुणश्चेति चतुर्धा भक्तिरीर्यते ॥४॥

प्रेम गुण रहित है यह बताया। परंतु गुण होने पर भक्ति न हो तो अकाम, सर्वकाम सभी भक्तियोग से भगवान की पूजा करें इस वचन की संगति कैसी? सर्वकाम इत्यादि से सत्त्वादि गुण सिद्ध होते हैं सर्वकाम इत्यादि में दिव्यकाम अर्थ नहीं है क्योंकि उक्ति वैयर्थ्य होगा।

किं च भक्त्या गुणातीतिर्भक्तिश्चोक्ता गुणात्यये।

अत्रान्योन्याश्रयो दोषो न चैकमपि साधयेत् ॥५॥

दूसरी बात शास्त्रों में भक्ति से गुणात्यय भी बताया है और गुणात्यय होने से भक्ति होती है यह भी बताया है। अतः अन्योन्याश्रय दोष है। जहां अन्योन्याश्रय दोष होता है वहां एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती ("नौर्नाविबद्धा नेतरत्र त्राणाय")

❀ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ❀ ॥६॥
इत्याह भगवान् हेतुं भक्तियोगं गुणात्यये ।
तत्प्राप्येति ल्यपा चैतत्पूर्वसूत्रेऽपि गम्यते ॥७॥
तत्प्राप्तिकालपर्यन्तं त्रैगुण्यालोकनं भवेत् ।
तत्प्राप्त्या निर्गुणविधं तन्मात्रालोकनं भवेत् ॥८॥

अव्यभिचारी भक्तियोग से गुणों को पार कर ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं इस गीतावचन में भक्ति को गुणात्यय कारण बताया। और तत्प्राप्य तदेवावलोकयति यहां ल्यप् प्रत्यय से यह अर्थ प्राप्त होता है। तत्प्राप्ति के पहले त्रैगुण्यदर्शन अर्थात् सिद्ध है।

❀ प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥९॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तम श्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ❀ ॥१०॥
❀ गृहवित्तजनापत्यासक्तैर्दुष्प्रापणाय च ।
मुक्तात्मभिर्भावितायं तस्मै ज्ञानात्मने नमः ❀ ॥११॥
इत्यादौ निर्गुणस्थानां भक्तिः प्राप्येति गम्यते ।

गुणराहित्यसूत्रं च समुपोद्‌बलकं भवेत् ॥१२॥

प्रायः करके विधिनिषेध से निवृत्त निर्गुणस्थ मुनि ही भगवद्‌गुणानुकथनरूपी भक्ति में रमण करते हैं। शुकदेवजी कहते हैं—मैं निर्गुणस्थ ही भक्ति से आकृष्ट हो भागवत पढ़ने लगा। गजेन्द्रस्तुति में है—गृहाद्यासक्त मनुष्य के लिये भगवान् अप्राप्य है। वे मुक्त—प्राप्य हैं। गुणरहितं यह सूत्र भी इसी का समर्थक है।

अत्रोच्यते परं प्रेम सर्वथा गुणवर्जितम्।
गुणैकाधिकरण्यं चाप्यपरप्रेम्ण्युपेयते ॥१३॥
शैत्यमुष्णं मिथस्तावद्विरुद्धमनुभूयते।
तथाप्युष्णजले दृष्टमैकाधार्यं तयोरपि ॥१४॥
न च शैत्यं तत्र नष्टं स्वभावध्वस्त्यसंभवात्।
तत्राभिभूतिमत्रं तु शैत्यस्य समुपेयते ॥१५॥
औष्ण्यस्य तारतम्येन सा च न्यूनाधिकात्मना।
दृश्यते तद्वदत्रापि भवेत्प्रेमतिरस्कृतिः ॥१६॥
गुणैस्तिरस्कृतं किंचिदपरप्रेम भण्यते।
सर्वथा गुणनिर्धूतौ परप्रेमेति चोच्यते ॥१७॥

इसका समाधान यह है कि परम प्रेम सर्वथा निर्गुण होता है। किन्तु अपर प्रेम में गुणसामानाधिकरण्य रहता है। यद्यपि शीत और उष्ण विरुद्ध है, फिर भी गरम जल में दोनों रहता है। शीत वहाँ नष्ट नहीं हुआ है क्योंकि स्वभाव नाश नहीं होता किन्तु तिरोभाव होता है। औष्ण्य के तारतम्य से अभिभूति का तारतम्य होता है। वैसे प्रकृत में गुणों से अल्पतिरस्कृत हो तो अपरप्रेम और सर्वथा गुणवर्जित हो तो परम प्रेम होता है।

क्वथमाने जले शैत्यं नैवात्यन्तं प्रतीयते ।
तथा संसृतिवेलायां न प्रेमाप्यनुभूयते ॥१८॥
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
जलपात्रावतरणमग्नेर्वाय्वभिमर्शनम् ॥१९॥
हिमखण्डादिसंस्पर्शोपमं सद्भक्तदर्शनम् ।
इत्यादिकं स्वयमिह शक्यमेवोहितुं बुधैः ॥२०॥
दृष्टान्तः सुगमत्वाय न तु शङ्क्यमतो बहु ।
गुणाभिभवनं प्रेम्ण उपपादयितुं क्वचित् ॥२१॥
सा च गौणी भक्तिरिति महान्तः संप्रचक्षते ।
तत्त्रैविध्यमिह प्राह तारतम्याभिधित्सया ॥२२॥

उबलते जल में शैत्य प्रतीत ही नहीं होता। वैसे संसार दशा में प्रेम भी प्रतीत नहीं होता। सबसे मन को हटाना और सत्संग में लगाना ठीक उसी प्रकार है जैसे पानी को आग से उतारा और हवा लगाया। सद्भक्त दर्शन तो पानी में बर्फ गिराना जैसा है। यह सब दृष्टान्त सुगमता के लिये है अतः अन्य शंकायें नहीं उठानी चाहिये। हाँ गुणों से कहीं प्रेम का अभिभाव होता है। यही यहाँ वक्तव्य है। उस समय की भक्ति को गौणी भक्ति कहते हैं। तारतम्य बतलाने के लिये यहाँ उसकी त्रिविधता बतायी जा रही है :—

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा ॥५६॥

गौणी भक्ति त्रिगुण भेद से या आर्त्तजिज्ञासु अर्थार्थी भेद से तीन प्रकार की होती है।

केचित्त्वेतावता भक्तिं परमप्रेमलक्षणाम् ।
निरूप्य गौणीमधुना ब्रवीतीति व्यभाजयन् ॥२३॥

तत्र स्वयंप्रमाणत्वं शान्त्यानन्दादिरूपता ।
वक्ष्यते यत्तदखिलं परमप्रेमगोचरम् ॥२४॥
समाप्तपुनरात्तत्वं विभागे सति जायते ।
भक्तिश्च शास्त्रविषयः परमप्रेमलक्षणा ॥२५॥

कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ तक (तत्प्राप्य इत्यादि सूत्र तक) मुख्य भक्ति निरूपण है। उसके बाद गौणभक्ति का निरूपण किया जा रहा है ऐसा शास्त्र विभाग है। परन्तु वह ठीक नहीं है। कारण स्वयं प्रमाणत्वात् शान्तिरूपात् इत्यादि अग्रिमविशेषण मुख्य भक्ति का है। विभाग करने पर वे सब विशेषण असंगत होंगे। या फिर समाप्त मुख्य भक्ति का पुनरुत्थापन मानना होगा। दूसरी बात गौण भक्ति शास्त्र का विषय भी नहीं है।

ननूक्तं योगशास्त्रादावथ योगानुशासनम् ।
संप्रज्ञातोऽप्यसंप्रज्ञातः समाधिर्योगशब्दितः ॥२६॥
भाषितं च तथा भाष्ये व्यासेनैव महर्षिणा ।
तद्वदत्रापि वक्तव्यं प्रतिज्ञासूत्रगं पदम् ॥२७॥
अथातो भक्तिमित्यत्र मुख्या गौणी च गृह्यते ।
अविशेषेण निर्देशाद् नैवं विषमता यतः ॥२८॥
चित्तवृत्तिनिरोधं हि प्राब्रवीद्योगलक्षणम् ।
तत्र सर्वपदानुक्तेरुभयग्रहणं भवेत् ॥२९॥
व्याख्येयां भक्तिमत्राह परमप्रेमलक्षणाम् ।
सविशेषणनिर्देशो लक्षणे मुनिना कृतः ॥३०॥

पूर्वपक्षः—अथ योगानुशासनं इस सूत्र में योगपद से असंप्रज्ञात समाधि और संप्रज्ञात समाधि दोनों गृहीत होती है। वैसा

ही व्यास भाष्य है। वैसे ही यहाँ भी अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः में भक्ति पद से मुख्यभक्ति और गौणीभक्ति दोनों क्यों न लिया जाय ? इस का समाधान यह है कि वहाँ प्रतिज्ञासूत्र में उभययोग लेने का कारण योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस योगलक्षण में सर्ववृत्तिनिरोधः इस प्रकार सर्वपद का न जोडना है । परंतु यहां लक्षण में ही नारदजी ने सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस प्रकार परमपद जोड दिया है। अतः यहां मुख्य गौण दोनों भक्ति व्याख्येय नहीं मानी जा सकती।

तस्मात्प्रसङ्गसङ्गत्या गौणी भक्तिर्निरुप्यते ।
स्मृतत्वादनुपेक्ष्यत्वात्तत्प्रसङ्गोऽस्मदीरितः ॥३१॥

इसलिये प्रसंग संगति से ही गौणी भक्ति का निरूपण है। स्मृत हो और उपेक्षानर्ह भी हो तो प्रसंग संगति होती है। वह हमने अनुपद ही दिखा ही दिया है।

अन्ये तु साधनं गौणी सङ्गत्यागादिवद् भवेत् ।
तस्मात्कारणसंगत्या गौणीभक्तिनिरूपणम् ॥३२॥

दूसरों का कथन है कि गौणी भक्ति संग त्यागादि के ही समान मुख्यभक्ति का साधन है। अतःकारण संगति से गौणी निरूपण है।

परे तु परमं प्रेम दुर्गमं प्रोक्तलक्षणम् ।
इति नैराश्यमापन्नाः प्रबोध्यन्ते महर्षिणा ॥३३॥
गौणीं प्राप्नुत भो भक्तिं नैराश्यं मा स्म गच्छत ।
क्रमेण परमां भक्तिं प्राप्तुं योग्या भविष्यथ ॥३४॥
नारभन्ते भयान्नीचा जहत्यारभ्य मध्यमाः ।
आरब्धं न त्यजन्त्येव श्रेष्ठा विघ्नहता अपि ॥३५॥
* नैवाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥३६॥
॥ तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्॥।
इत्यादिवचनाद्भक्तिरारभ्या सास्तु गौण्यपि ॥३७॥
पूर्वं भूमौ कृता भक्तिरुत्तरां भूमिमानयेत् ।
योगो योगस्य हि गुरुरित्याद्यावपि तत्स्फुटम् ॥३८॥
अभ्युद्दधार भगवान् गौणीभक्तान् सहस्रशः ।
तथा च नारदो गौणीं जगाद जगदुद्धरन् ॥३६॥

अन्य मनीषी मानते हैं कि यथोक्तलक्षण अतिदुर्लभ देखकर निराश होने वालों के प्रबोधनार्थ गौणीनिरूपण है। गौणी से भी भक्ति प्राप्त होने की योग्यता होगी। भक्ति में आरब्धनाश नहीं होता स्वयं भगवान् उद्धारक है।

अथवा यदि भक्तिर्हि गुणादिरहिता भवेत् ।
भक्तत्वं गजराजादेः कथमेवोपपद्यताम् ॥४०॥
न च वाच्यं न ते भक्ताः शास्त्रे भक्तत्वकीर्त्तनात् ।
इत्याशङ्कामपाकर्त्तुं गौणो तेषां विभज्यते ॥४१॥

अथवा गौणी भक्ति निरूपण का आशय यों समझिये कि यदि भक्ति गुणादि रहित हो तो गजराजादि का भक्तत्व कैसे संगत होगा। यह कहना नितान्त अनुचित है कि वे भक्त ही नहीं थे। क्योंकि सर्वत्र उनका भक्तत्व प्रसिद्ध है। इस आशंका को दूर करने के लिये गजराज अर्जुनादि की गौणी भक्ति का विभाग करते हैं।

गौणी भक्तिस्त्रिधा प्रोक्ता सत्त्वादिगुणभेदतः ।
आर्त्तादिभेदतोऽप्येवं गौणीभक्तिस्त्रिधोच्यते ॥४२॥

गौणी भक्ति सत्त्वादि गुण भेद से तीन प्रकार की होती है। और

आर्त्तादि भेद से भी तीन प्रकार की होती है।

गुणप्रयुक्ता गौणीति मुख्यार्थोपाश्रिताऽऽदिमा।
विस्तरात्कपिलस्तां तु देवहूत्यै न्यरुपयत् ॥४३॥

गुण प्रयुक्त होने से गौणी है यह गौणी शब्द का मुख्यार्थ है। कपिल मुनि ने देवहूति को उसका वर्णन कर बताया है।

*भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते* ॥४४॥

भक्तियोग मनुष्यों के स्वभाव गुणमार्ग से नाना प्रकार होता है।

*अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव च।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयिकुर्यात्स तामसः ॥४५॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥४६॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः* ॥४७॥

हिंसा दंभादि से प्रेरित भक्ति तामसी है विषयेच्छादि प्रेरित राजसी और मोक्षेच्छादि प्रयुक्त सात्त्विकी है।

*यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥४८॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसीम्* ॥४९॥

उपरोक्त भक्तों को ही क्रमशः सत्त्वादि प्रकृतिवाला भी समझना चाहिये।

त्रैगुण्यविषयं चान्यद् व्याख्यातं पूर्वमेव तु ।
प्रेम्णो निर्गुणरूपत्वाख्याने भगवतोदितम् ॥५०॥

अधिक गुणरहितं की व्याख्या में द्रष्टव्य है ।

गौणीत्यमुख्येत्यर्थेन त्रिधोक्तार्त्तादिभेदतः ।
गीतायामर्जुनायैतां जगाद भगवान् हरिः ॥५१॥

गौणी का अमुख्य अर्थ लेकर आर्त्तादि भेद से त्रिविधता बतायी । उसे गीता के वचनों में देखें :—

*चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ* ॥५२॥

हे अर्जुन ! आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार भक्त होते हैं ।

अथात्र भगवान् भक्तेश्चातुर्विध्यमवोचत ।
न च ज्ञानी निर्गुणः स्याद् यतो ज्ञानं गुणः स्वयम् ॥५३॥
न च गौणीत्यमुख्यत्वं प्रोक्तं न गुणजन्यता ।
इति वाच्यं निर्गुणेन पार्श्वविध्यं तदा भवेत् ॥५४॥
ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रा स्यान्न शुद्धा भक्तिरित्यतः ।
चातुर्विध्यं हि गौण्याः स्यादमुख्यत्वसमत्वतः ॥५५॥
उच्यते ज्ञानशब्दोऽत्र न तत्त्वज्ञानवाचकः ।
तथात्वे ज्ञानिनो भक्तिरपि गौणी प्रसज्यते ॥५६॥
तत्त्वं सतश्च सद्भावोऽसद्भावश्चासतो मतम् ।
मुख्यभक्तैनैर्व तादृक्तत्त्वज्ञानमपेक्षितम् ॥५७॥
किन्त्वत्र भावनारूपं ज्ञातमेव विवक्षितम् ।

स्पष्टीकृतमिदं पश्चात्स्वयं भगवता खलु ॥५८॥

पूर्वपक्ष :—भगवान् ने भक्तों के चार भेद बतायें अतः आर्त्तादि-भेद से त्रिधा कहना समञ्जस नहीं है। ज्ञानी निर्गुण भक्त है अतः ज्ञानी की भक्ति गौणी नहीं है यह युक्ति भी ठीक नहीं है, कारण, ज्ञान भी स्वयं गुणरूप है। गौणी का अमुख्य अर्थ होने से दोष नहीं कहें तो निर्गुण को लेकर भक्त पंचविध होंगे और ज्ञानियों की ज्ञान-निद्रा होने से गौणी के चार प्रकार होंगे। इसका उत्तर यह कि यहाँ ज्ञान भावना विशेष अर्थ है। तत्त्वज्ञान नहीं। सत् का सद्भाव और असत् का असद्भाव तत्त्व है ऐसा न्याय भाष्य में लिखा है। ऐसा तत्वज्ञान भक्ति में अनुपयुक्त है। यह आगे गीता में ही स्पष्ट है।

❀ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ❀ ॥५९॥
अर्चादौ भगवद्भावमविद्वांसोऽपि कुर्वते।
सर्वत्र भगवद्भावो ज्ञानिनां लक्षणं मतम् ॥६०॥
अतएव निनिन्दैतनर्चामात्रपरायणात्।
श्रीमद्भागवते साक्षाद् भगवान् कपिलो मुनिः ॥६१॥

सभी वासुदेव है यह ज्ञानी का स्वरूप है। अतएव भाव ही ज्ञान शब्द का अर्थ है। मूर्त्ति आदि में भगवद्भाव सामान्य लोग भी करते हैं पर सर्वत्र भगवद्भाव नहीं। वही ज्ञानी का लक्षण है। अतएव श्रीमद्भागवत में केवल अर्चामात्र भक्ति की निन्दा की है।

❀ अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥६२॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥६३॥

आर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं म स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥६४॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥६५॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति * ॥६६॥
इति तत्रैव च ज्ञानस्वरूपमपि वर्णितम् ।
अभावनात्मविज्ञानाज्ज्ञानमिश्रा न चान्यथा ॥६७॥

सर्वभूतस्थ मेरी अवज्ञा कर प्रतिमापूजन विडम्बन है । वह भस्म में आहुति देने बराबर है । तब तक प्रतिमापूजन करे जबतक स्वहृदय में और सर्वभूतों में भगवद्दर्शन न हो । दान, मान, मैत्री और अर्थदृष्टि से सर्वभूतस्थ मेरा पूजन करें । मन से सब को प्रणाम करें । क्योंकि ईश्वर ही जीवकला से प्रविष्ट है । इस प्रकार ज्ञानस्वरूप का भी भागवत में वर्णन है । भावनानात्मक ज्ञान से ज्ञानमिश्रता है ।

ननु ज्ञानपदेनैषा भावना कथमुच्यताम् ।
वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानं पुंस्तन्त्रा भावना मता ॥६८॥
मैवं यथार्थ विषया भावना ज्ञानरूपिणी ।
तयाभिव्यज्यमानस्य वस्तुत्वात्स्व प्रभात्मनः ॥६९॥
अतो हि भाष्यकृज्ज्ञानं निर्गुणोपासनां जगौ ।
द्वादशाध्यायगे भाष्ये इति सर्वसमञ्जसम् ॥७०॥

शंका:—ज्ञानपद का अर्थ भावना कैसे ? ज्ञान वस्तुतन्त्र है और भावना पुरुषतन्त्र होती है ? इस का उत्तर यह कि यथार्थ विषयक

भावना ज्ञान समान होने से ज्ञानरूप है। भावनावृत्ति से अभिव्यक्त स्वयं प्रकाश भी है। इसी लिये निर्गुणोपासक को गीताभाष्य में ज्ञानी ही बताया है।

ननु सर्वेषु भगवद्भावोऽप्येष गुणात्मकः।
तथा च ज्ञानिनां भक्तिरगौणरिति कथं स्थितम् ॥७१॥
मैवं सर्वस्य भगवद्भावो ब्रह्मात्मकत्वतः।
स्वयं प्रभस्वरूपोऽयं वृत्त्या भावनयास्फुरेत् ॥७२॥
रूपं तद्धि रसस्येति व्याख्यातं प्रेमलक्षणे।
तत्रानुभवरूपं तदित्युक्तं ब्रह्मसूनुना ॥७३॥

ॐ

शंकाः—सर्वभूतों में भगवद्भावना भी तो गुणात्मक है अतः ज्ञानियों की भक्ति अगौणी कैसे ? इसका समाधान यह कि भावना भिव्यङ्ग्थ भगवद्भाव स्वयं प्रकाश ब्रह्मरूप है। वह रसात्मक प्रेम का रूप है यह 'अनुभवरूपं' से पहले बताया जा चुका है।

ॐ

अथार्त्तादिषु भक्तेषु कः श्रेयानिति चिन्त्यते।
किमर्थमिति चेच्छ्रेयः परिग्रहणहेतवे ॥१॥
सामर्थ्ये सति यच्छ्रेयस्तद्ग्रहीष्यति सन्मतिः।
उत्तरोत्तरतः श्रेयानिति स्वभावगम्यते ॥२॥

गौणी भक्ति वाले आर्त्तादि में कौन अधिक श्रेष्ठ है इस पर अब विचार करेंगे। क्यों विचार करना ? इसका उत्तर यह कि जो श्रेष्ठ होगा उस भक्ति का ग्रहण करने के लिये विचार सार्थक है। सामर्थ्य न होने पर साधारण भक्ति का ग्रहण भले हो, पर सामर्थ्य हो तो श्रेष्ठ भक्ति को ग्रहण करना ही बुद्धिमत्ता है। इस विचार में पूर्व

पक्षरूप से पूर्व पूर्व से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ प्रतीत होता है। क्योंकि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट कहने की सामन्यतः प्रथा है।

ज्ञानी खलु महानेवेत्यन्ते सपरिकीर्त्तितः।
क्रमेणैवोत्तरेषां तच्छ्रेयस्त्वं युज्यतेतराम् ॥३॥

उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने ही से सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी का अन्त में निर्देश भी संगत है।

न च ज्ञानस्य भूयस्त्वात्तदिच्छुश्चाधिको भवेत्।
अर्थार्थी पुनरार्त्तादेर्न श्रेयानिति सांप्रतम् ॥४॥
अर्थो मोक्षाभिधानोऽस्तु पुरुषार्थः सुखात्मकः।
मुमुक्षुरिति यावत्स श्रेयानार्त्तादितो भवेद्धः ॥५॥

शंका:—ज्ञान श्रेष्ठ होने से ज्ञानेच्छु—जिज्ञासु भी भले श्रेष्ठ हो पर, आर्त्त से अर्थार्थी क्यों श्रेष्ठ माना जाय इसका समाधान यह कि यहाँ अर्थपद से धन न लेकर पुरुषार्थ मोक्ष लेना चाहिये। तो आर्त्त की अपेक्षा मोक्षार्थी-मुमुक्षु श्रेष्ठ होगा ही।

न चैवमपि न श्रेयान् जिज्ञासोः स्यान्मुमुक्षुकः।
ज्ञानादपि फलात्मत्वाद्यतो मोक्षः परः स्मृतः ॥६॥

यदि आप अर्थार्थी का मुमुक्षु अर्थ करते हैं तब जिज्ञासु से श्रेष्ठ कैसा? उत्तर यह कि ज्ञान का भी फल मोक्ष होने से मुमुक्षु ही जिज्ञासु से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति ॥५७॥

उत्तर उत्तर से पूर्वपूर्व भक्ति श्रेयकारण होती है।

एवं प्राप्त इदं ब्रूमः पूर्वपूर्वोऽधिको भवेत्।
ज्ञानिनोऽत्र पृथक्कृत्य वक्तव्यत्वादतत्क्रमात् ॥७॥

प्रस्तुत विचार में सिद्धान्त पक्ष यह है कि उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्वपूर्व श्रेष्ठ होता है। जो बताया था कि सर्वश्रेष्ठ का अन्त में कहने से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ क्रम है, उसका उत्तर यह कि ज्ञानी को पृथक् करके आगे कुछ कहना है अतः ज्ञानी को अन्त में कहना कोई साधक नहीं है।

* तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते*।

एवं विशेषकथनं स्वतःप्राप्तेर्वृथान्यथा ॥८॥

क्रम पाठ से ही ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है यह अर्थात् सिद्ध है। तब तेषां ज्ञानी विशिष्यते यह कहने का प्रयोजन भी क्या था ?

न च प्राप्तानुवादोऽयं विशेषस्येति सांप्रतम्।

हेतुनिर्देशवैयर्थ्यादन्येषामनिरूपणात् ॥९॥

यदि कहो कि क्रम निर्देश से प्राप्त विशिष्टता का ही ज्ञानी विशिष्यते से अनुवाद है तो भी ठीक नहीं कारण अनूदित श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिये एक भक्तित्वादि हेतु निर्देश अयुक्त होगा। केवल स्वरूप निरूपण मात्र हो तो दूसरों का भी स्वरूपनिरूपण करना चाहिये था।

जिज्ञासोर्ज्ञानिनश्चैव पृथगुक्तिस्तथा वृथा।

जिज्ञासुर्हि भवेज्ज्ञानी स्वाम्नायश्रवणादितः ॥१०॥

दूसरी बात यह है कि जिज्ञासु घटक ज्ञान और ज्ञानि घटक ज्ञान दोनों यदि एक है, जिससे कि ज्ञानी श्रेष्ठ होने से निकट वर्त्ती जिज्ञासु श्रेष्ठ सिद्ध हो, तो जिज्ञासु और ज्ञानी को अलग करके कहने का भी कोई अर्थ नहीं रहता। जिज्ञासु ही तो श्रवणादि से ज्ञानी बनेगा।

न च ज्ञाने परिप्राप्ते जिज्ञासोर्भजतो मुनेः।

कृतकृत्यतया भक्तिर्नैयत्यं नेति सांप्रतम् ॥११॥

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमिति पूर्वमुदीरणात् ।
ज्ञानाप्तावपि जिज्ञासोर्भक्तिनैयत्यसंभवात् ॥१२॥
नो चेज्ज्ञानी कथं श्रेष्ठोभक्तिनैयत्यहानतः ।
कृतकृत्यतया सोऽपि त्यजेद्भक्तिं कदाचन ॥१३॥
न च भक्तौ प्रजातायां नोच्छिद्यतेति युज्यते ।
जिज्ञासोरपि सा जातेज्ञानेह्युच्छिद्यतां कथम् ? ॥१४॥

जिज्ञासु को ज्ञान प्राप्ति होने पर कृत कृत्य होने से भक्ति छूट जायेगी अतः जिज्ञासु की अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ज्ञान होने पर भी जिज्ञासु की भक्ति रहेगी। नहीं तो ज्ञानी भी श्रेष्ठ कैसा ? कृत कृत्य होने से उसकी भी भक्ति छूट सकती है। उत्पन्न हुई भक्ति उच्छिन्न नहीं होती तो जिज्ञासु की भी क्यों उच्छिन्न होगी ?

ननु जिज्ञासवः केचिद्भक्त्या ज्ञानमवाप्नुयुः ।
परे भक्तिमकुर्वाणा श्रवणाद्यैरवाप्नुयुः ॥१५॥
न च भक्तिं विना नैव ज्ञानं स्यादिति सांप्रतम् ।
शुकादीनामभक्तानां पश्चाद्भक्तिसमुद्भवात् ॥१६॥
*परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीत चेताराजर्षे आख्यानं यदधीतवान्* ॥१७॥
इत्यत्र प्रथमं ज्ञानं पश्चाद्भक्तिश्च सूच्यते ।
जिज्ञासु ज्ञानिनोस्तस्मात्पृथगुक्तिः समञ्जसा ॥१८॥
प्रागेव ज्ञानसंप्राप्तेर्यो हि भक्तिप्रभावतः ।
जिज्ञासुःकृतकृत्यःस्यान्नज्ञान्यन्तर्गतः सहि ॥१९॥

केवलं श्रवणाद्यैर्यो ज्ञानं प्राप्य भजेद्यदि ।
ज्ञानिभक्तः स जिज्ञासुभक्तान्तर्गत्यनर्हणः ॥२०॥

पूर्वपक्ष :—कुछ जिज्ञासु भक्ति से ज्ञान प्राप्त करते हैं और कुछ जिज्ञासु विना भक्ति केवल श्रवणादि से ज्ञान प्राप्त करते हैं। भक्ति के विना ज्ञान हो नहीं सकता ऐसा नहीं कहा जा सकता कारण प्रथम ज्ञानी होकर शुकदेव जी बाद में भक्त हुए ऐसा पुराणों में बताया है। अतः केवल श्रवणादि जन्य ज्ञानवान् जो भक्त बनेगा वह जिज्ञासु भक्तान्तर्गत नहीं है। और ज्ञान होने से पूर्व ही जो जिज्ञासु भक्ति प्रभाव से कृतार्थ हो गया वह जिज्ञासु भक्त ज्ञानि भक्तान्तर्गत नहीं है। अतः दोनों का पृथक्कथन समञ्जस है।

अत्रोच्यते नहि ज्ञानमभक्तानां प्रजायते ।
साधनान्यपि नो चेत्स्युर्दूरेज्ञानकथा खलु ॥२१॥

सिद्धान्त यह है कि भक्ति के बिना वैराग्यादि साधन ही नहीं हो सकते तो ज्ञान कहां से होंगे।

* स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसामि* ति ह्याचार्यभाषितम् ॥२२॥
हरितोषणधर्मादिर्भक्तिरूपो हि युज्यते ।
अतथाविधधर्मादेः श्रममात्रत्वमीरितम् ॥२३॥

आचार्यों ने भी बताया है कि स्ववर्णाश्रमधर्म और तप से हरि तुष्ट होने पर वैराग्यादि ज्ञानसाधन प्राप्त होते हैं। हरितोषकारक स्वधर्मादि भक्तिरूप ही होगा। अन्यादृश स्वधर्मादि को केवल श्रम-मात्र पहले कहा जा चुका है।

* ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते* ॥२४॥

इत्येवं तत्रतत्रोक्तं ज्ञानं भक्त्यैव जायते।
शब्दार्थमात्रविषयं ज्ञानं नेह विवक्षितम् ॥२५॥

ईश्वर कृपा से ही अद्वैतवासना होती है इत्यादि वचन से भी ज्ञान भक्ति से ही होती है। केवल शब्दार्थ ज्ञान ही ज्ञान नहीं है। अतएव 'महाभयकृतत्राणा' यह विशेषण है।

तस्माज्जिज्ञासुभक्तो हि ज्ञानिभक्तो भवेदिति।
पृथक्त्कीर्त्तनं व्यर्थं जिज्ञासोर्ज्ञाननिश्चयात् ॥२६॥

इसलिये जिज्ञासुभक्त ही ज्ञानीभक्त होता है इसलिये दोनों को पृथक् कहना व्यर्थ है। और जिज्ञासु को ज्ञान होगा ही।

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥२७॥
तेषामेवानुकम्पार्थं महमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता* ॥२८॥
अप्रकृत्यापि जिज्ञासामित्थं ज्ञनदतां वदन्।
जिज्ञासवे कथं ज्ञानं न दद्यात् स्वयमीश्वरः ॥२९॥

गीता में भगवान् कहते हैं कि भक्त को मैं ज्ञान देता हूँ। जिज्ञासा का वहां प्रकरण नहीं है। फलतः जिज्ञासा न होने पर भी औचित्य समझ कर भगवान् ज्ञान देते हैं तो जिज्ञासु होकर भजने वालों को ज्ञान क्यों नहीं देंगे स्वयं सोचो।

तस्माज्जिज्ञासुशब्दान्तर्गतं ज्ञानं पृथङ्मतम्।
तथैव ज्ञानिशब्दान्तर्गतं ज्ञानं पृथङ्मतम् ॥३०॥

इसलिये जिज्ञासुशब्दगत ज्ञान अलग है ज्ञानीशब्दगत्त ज्ञान अलग है।

तत्र यज्ज्ञानि घटकं ज्ञानं तद्भावनात्मकम् ।
जिज्ञासु घटकं ज्ञानं तत्त्व ज्ञानं च सम्मतम् ॥३१॥

इनमें ज्ञानघटक ज्ञान भावनात्मक है और जिज्ञासुघटक ज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक है। इन दोनों का भेद पहले बता चुके हैं।

न साधनानि जायन्तेऽभक्तस्येति यदीरितम् ।
तद्गौणीं भक्ति मादाय जिज्ञासोःप्रोक्त लक्षणाम् ॥३२॥

साधन भक्ति बिना नहीं होते यह जो पहले बताया वह भी जिज्ञासु की गौणी भक्ति को लेकर ही कहा गया है।

एतेन भक्ति पूर्वत्वे ज्ञान मुक्त्योः कथं वचः ।
मुक्तिं ददामि नो भक्ति मितीत्यपि समाहितम् ॥३३॥

गौणी भक्ति वैराग्यादि का कारण है। अतएव मैं मुक्ति देता हूँ भक्ति नहीं इस भगवदुक्ति की उपपत्ति है।

परमप्रेमभक्तिस्तु ज्ञानिनो भवतीत्यतः ।
तस्य सर्ववरिष्ठत्वमप्युक्त मुपपद्यते ॥३४॥

ज्ञानी की परमप्रेमरूपा भक्ति है अतः उसकी सर्वश्रेष्ठता भी युक्त है।

यत्त्वर्थो मोक्षलक्ष्मायं ज्ञानात्सह्यधिको मतः ।
तस्माज्जिज्ञासुतोऽर्थार्थी श्रेयान् स्यादिति तन्नसत् ॥३५॥
यतोऽर्थशब्दो मोक्षार्थो यदि ह्यत्र विवक्ष्यते ।
तदा त्वर्थार्थिजिज्ञास्वोः पृथगुक्तिर्वृथा भवेत् ॥३६॥

जो पहले यह कहा कि अर्थार्थी में अर्थ शब्द का मोक्षरूपी पुरुषार्थ अर्थ है अतः अर्थार्थी जिज्ञासु से श्रेष्ठ है इत्यादि, वह ठीक नहीं है, कारण अर्थार्थी का मोक्षार्थी अर्थ हो तो जिज्ञासु का और

अर्थार्थी का पृथग् ग्रहण व्यर्थ होगा। क्योंकि मुमुक्षु और जिज्ञासु एक ही है।

अविद्याया निवृत्तिर्हि मोक्ष इत्यभिधीयते।
सा जीवन्मुक्तिकाले तु तत्त्वज्ञानात्मिका भवेत् ॥३७॥

अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है। जीवन्मुक्ति काल में वह अविद्यानिवृत्ति तत्त्वज्ञानरूप ही मानी जाती है।

यत्किंचिद्भेदमादाय भक्तभेदो यदीर्यते।
तदानन्तविधाभक्ता वाच्याः स्युर्नचतुर्विधाः ॥३८॥

अल्पभेद जिज्ञासु और मोक्षार्थी में मान भी लें तो भी इतने को लेकर भक्तभेद कहेंगे तो भक्तों का अनन्त भेद कहना होगा न कि चार ही भेद।

किं च मोक्षार्थिनां भक्तिर्गणनां न समर्हति।
मुक्तस्य भक्त्ययोगेन भक्त कोट्य प्रवेशतः ॥३९॥

दूसरी बात यह भी है कि मोक्षार्थी की भक्ति गणना करने योग्य ही नहीं है। क्योंकि मुक्त पुरुष में भक्ति नहीं होती। अतः मुमुक्षु को भी भक्तकोटि में रखना ठीक नहीं है।

मुक्तिं ददाम्यह मा स्म भक्ति योगं कदाचन।
इत्युक्ते मुक्ति काले हि भक्तितोऽस्तीति गम्यते ॥४०॥

मैं मुक्ति देता हूँ, पर भक्ति नहीं देता, इस उक्ति से मुक्ति काल में भक्ति नहीं रहती यह सूचित होता है।

न साधनानि मुक्तस्य पुनर्नावर्त्तते च सः।
तस्मादनन्तदिष्टान्तं मुक्तो निर्भक्ति तिष्ठति ॥४१॥

मुक्त केवल होने से उसके पास कोई साधन नहीं है जिससे भक्ति हो और न उसकी पुनरावृत्ति ही होती है जिससे पुनः भक्ति

साधन ग्रहण कर सके। अतः मुक्त अनन्त काल तक बिना भक्ति ही रह जाता है।

न च प्रागदर्शितात्स्कान्दाद् भक्ति मुक्त्यो रभिन्नता।
भक्ति मार्गे भक्तिरेव मुक्ति रित्याशयो यतः ॥४२॥

पहले यह दिखाया जा चुका है कि भक्ति और मुक्ति एक है। यह स्कन्द पुराण का वचन है अतः मुक्त में भक्ति नहीं यह कैसे ? इसका उत्तर यही है कि भक्तिमार्गावलम्बियों की मुक्ति भक्ति ही है अतिरिक्त नहीं है यही स्कान्दवचन का आशय है।

न च मोक्षफलं भक्तिरति प्रागुपवर्णितम्।
जीवन्मुक्तिफलं भक्तिरिति तस्याशयो यतः ॥४३॥

पहले मोक्ष का फल भक्ति बताया है सो कैसे ? इसका उत्तर है कि जीवन्मुक्ति का फल भक्ति है यही उसका तात्पर्य है।

अत एव च जिज्ञासुं भक्तकोटौ विवक्ष्महे।
ज्ञानलक्षणमुक्त्या हि परमप्रेम संभवेत् ॥४४॥

इसीलिये जिज्ञासु को हम भक्त कोटि में रखते हैं। क्योंकि ज्ञानरूपी जीवन्मुक्ति के बाद भी भक्ति संभव है।

तस्माद् द्रविणमेवात्र सुखं वा लौकिकात्मकम्।
अर्थशब्देन भगवानभ्यधित्सद्धनञ्जयम् ॥४५॥

इसलिये गीता में अर्थार्थी में धन या लौकिक सुख ही विवक्षित है।

अर्थार्थिन पुनर्भक्तान् ध्रुवादीन् संप्रचक्षते।
तन्मुखेनापि ते भक्तिं परमामन्ततो ययुः ॥४६॥

अर्थार्थी भक्त का उदाहरण ध्रुवादि हैं। उस अर्थार्थीभक्ति से भी वे अन्त में परमभक्ति प्राप्त हुए। अतः क्रमिकसाधन होने से अर्थार्थी भक्ति सर्वथा हेय नहीं है।

कामनात्वत्रविस्पष्टा लौकिकानन्दगोचरा ।
श्रेष्ठस्ततो हि जिज्ञासुर्भक्तादर्थार्थितो मतः ॥४७॥

अर्थार्थी में लौकिक कामना स्फुट है। अतः अर्थार्थी की अपेक्षा जिज्ञासु भक्त ही श्रेष्ठ है।

या चार्थविषया नृणामर्थिता लोभ एव सः ।
लोभश्चबहुधाशास्त्रेनिन्दितस्तत्त्ववेदिभिः ॥४८॥

और अर्थ विषयक कामना को तो लोभ कहते हैं तथा उसकी निन्दा भी शास्त्रकारों ने भरपूर की है।

* त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्* ॥४९॥

काम क्रोध और तीन नरकद्वार है। अतः इसे छोड़ें यह गीता-वचन है।

जिज्ञासुर्ज्ञानसंप्रेप्सुर्नहि कामादिदोषभाक् ।
तेन स्यात्सुलभा भक्तिरात्मारामशुकादिवत् ॥५०॥

जिज्ञासु में कामादि दोष नहीं होते अतः उनके लिये भक्ति सुलभ होती है जैसे शुकदेवादि हुए।

ननु जिज्ञासुतः कस्मादार्त्तस्य श्रेष्ठतोच्यते ।
जिज्ञासया भवञ्ज्ञानी सर्वश्रेयान् हि सम्मतः ॥५१॥
न च ज्ञानिपदाद् भावविशेषः पूर्वमीरितः ।
जिज्ञासुघटकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं च दर्शितम् ॥५२॥
तस्माज्ज्ञान प्रयुक्तं न श्रैष्ठ्यमत्रेति सांप्रतम् ।
यतो न ज्ञानिभक्तत्वाच्छ्रैष्ठ्यं व्याचक्ष्महे वयम् ॥५३॥
तत्त्वज्ञानेऽपि संजाते भवेद्भक्तिः शुकादिवत् ।

कामादिरहितत्वाच्च तच्छ्रैष्ठ्यं व्याहरामहे ॥५४॥
किं च दुःखेषु नष्टेषु कस्मादार्त्तो भजेद्धरिम् ।
वालौ हि निहते रामं सुग्रीवो व्यस्मरच्छनैः ॥५५॥
न हि ज्ञाने परिप्राप्ते जिज्ञासुर्विस्मरेद्धरिम् ।
मणिकाच परिज्ञाने कुतो जह्यान्मणिं बुधः ॥५६॥

पूर्वपक्षः—जिज्ञासु भक्त से आर्त्तभक्त श्रेष्ट क्यों है। जिज्ञासा से ज्ञान होने पर वह सर्वश्रेष्ट भक्त होता है। यद्यपि जिज्ञासाघटक ज्ञान तत्त्वज्ञान है भावनात्मक ज्ञान नहीं है। तथा तत्त्वज्ञानी शुकादि को उत्तम भक्ति हुई। और कामादिरहित होने से भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है। दूसरी बात यह कि आर्त्तभक्ति दुःख नष्ट होने पर भगवान को भूल जायेगा। जैसे बालि को मारने के बाद सुग्रीव धीरे धीरे राम को भूलने लगा था। जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त होने पर भी हरि को भजेगा। हीरा और कांच को पहचानने के बाद भला कौन ऐसा समझदार होगा जो हीरा को छोड़ देगा।

अत्रोच्यते नहि ज्ञाने भक्ति नैयत्य मीच्यते ।
ज्ञानिनां हर्यभक्तानां दशमे पतनोक्तितः ॥५७॥

सिद्धान्त पक्ष यह कि तत्त्वज्ञान होने पर भक्ति निश्चितरूप से ही होती है ऐसा नियम नहीं है। अतएव दशमस्कन्ध में अभक्तज्ञानी का पतन बताया गया है।

परं पदं समारुह्य कृच्छ्रेण ज्ञानमानिनः ।
अनादृतभवत्पाद भगवन्निपतन्त्यधः ॥५८॥

येऽन्येरविन्दाक्ष इत्यादि श्लोक का यह संक्षेप है।

श्रेयः सृतिं विभो भक्तिमुदस्य ज्ञानलब्धये ।
तुषावघातिवद्व्यर्थं क्लिश्यन्ति किल मानवाः ॥५९॥

श्रेयः स्तुतिं भक्ति मुदस्य इत्यादि का यह संक्षेप है।

एवं तुल्यौ पश्चिमे स्तां जिज्ञास्वार्त्तौ तथापि च।
आर्त्तस्य स्पष्टमधिकं व्याकुलत्वं हरिं प्रति ॥६०॥

आर्त्त को दुःख मिटाने के पश्चात् और जिज्ञासु को ज्ञान होने के पश्चात् भक्ति के रहने न रहने में समानता ही है। तथापि आर्त्तभक्त में भगवान के प्रति व्याकुलता स्पष्ट ही अधिक होती है।

तं तद्वदार्त्तमालोक्य निशम्य स्तोत्रमेव च।
छन्दोमयेनाभ्यगमत्तार्क्ष्येण गजयूथपम् ॥६१॥

इत्यादावार्त्तभक्तानां भगवद्दर्शनं यथा।
जिज्ञासूनां तथा क्वापि नैव वर्णितमीक्ष्यते ॥६२॥

आर्त्तों की व्याकुलता फल शीघ्र भगवद्दर्शन है। यह गजेन्द्र मोक्षादि में स्पष्ट है। वैसा उदाहरण जिज्ञासुओं का पाया नहीं जाता।

आर्त्तानामेव साधूनां प्रायो रक्षण हेतवे।
अवतीर्यानुगृह्णाति भूतानां भूतभावनः ॥६३॥

प्रायः आर्त्त भक्तों की रक्षा के लिये ही अवतार लेकर भगवान् भूतभावन प्राणियों पर अनुग्रह करते हैं।

परित्राणाय साधूनामित्यूचे तदिदं हरिः।
आर्त्तानां क्लेशनिर्मुक्तिः परित्राणमितीर्यते ॥६४॥

परित्राणाय साधूनां इत्यादि श्लोक में भगवान ने यह बात कही परित्राण का अर्थ है—आर्त्तों का क्लेशहरण।

ननु जिज्ञासुकालीना भक्तिरुच्छिद्यतां कथम्।
अविच्छिन्नं खलु प्रेमेत्यधुनैवोपवर्णितम् ॥६५॥

न चार्त्तस्यापि दुःखान्ते प्रेम नोच्छिद्यते तदा।

नोच्छिद्यतां परं तस्य व्याकुलत्वं विनङ्क्ष्यति ॥६६॥

पूर्वपक्षः—जिज्ञासाकाल में जो भक्ति है वह ज्ञान होने पर उच्छिन्न कैसे होगी ? प्रेम को अभी ही अविच्छिन्न बताया। इस प्रकार फिर 'आर्त्त का भी क्लेशनाशोत्तर प्रेम उच्छिन्न होगा नहीं अत आर्त्त की श्रेष्ठता तो रहेगी ही, ठीक है। प्रेम उच्छिन्न न हो किन्तु व्याकुलता तो उच्छिन्न होगी जिसको लेकर वह उत्तम गिना जाता है।

न च व्याकुलताप्येव नोच्छिद्येतेति सांप्रतम् ।
तस्याः क्लेशप्रयुक्ताया दिव्यत्वासंभवादिति ॥६७॥

व्याकुलता क्लेश प्रयुक्त होने से दिव्य नहीं हो सकती

आस्तां तत् दशमप्रोक्तं ज्ञानिनःपतनं कथम् ।
अभक्तस्य हि जिज्ञासो र्ज्ञानं नैवोपगम्यते ॥६८॥

खैर यह बात रहने दें, दशमस्कन्ध में ज्ञानी का पतन कैसे कहा। यह कहें कि विना भक्ति ज्ञान हुआ तो यह उचित नहीं है।

भक्तौ सत्यां च तन्नाशः सिद्धान्तं नावगाहते ।
त्वय्यस्तभावादिति तन्नाशः कण्ठोक्त एव च ॥६९॥

भक्ति का नाश सैद्धान्तिक नहीं है : और 'त्वय्यस्त भावात्' यहाँ अस्त शब्द का स्पष्ट नाश अर्थ है न कि अभावमात्र।

अत्र स्वतन्त्रा जगदुः प्रेमेदं त्रिविधं मलम् ।
परमं प्रेम तच्छाया प्रतिच्छायेति भेदतः ॥७०॥

स्वतन्त्र उत्तर यह देते हैं कि प्रेम तीन प्रकार का है—परम प्रेम, प्रेमच्छाया और प्रेम प्रतिच्छाया।

सर्वदोषविनिर्मुक्तमुपाधिपरिवर्जितम् ।
परमं प्रेम कथितं सा मुख्याभक्तिरिष्यते ॥७१॥

सर्वोपाधि दोष रहित परम प्रेम है वही मुख्य भक्ति भी है।

विज्ञानं वार्त्तिनाशो वा तत्फलं नैवमन्महे ।
स्वयंफल स्वरूपत्वं पुरा तस्योपपादितम् ॥७२॥

उस परम प्रेम का न तो ज्ञान फल है और न आर्त्तिनाशही वह स्वय फल स्वरूप है यह पहले ही बता चुके हैं ।

छायात्मकं पुनः प्रेम भक्तिर्गौणीति भण्यते ।
भगवद्विषयत्वेन तस्याः सद्विषयत्वतः ॥७३॥

छायात्मक प्रेम गौणी भक्ति कहलाती है । उसका विषय भगवान् होने से वह सदर्थविषयक है अतः भक्ति है ।

प्रतिच्छायात्मकं प्रेम कामादिरूपगीयते ।
अनात्मविषयत्वेन तस्यासद्विषयत्वतः ॥७४॥

प्रतिच्छायात्मक प्रेम काममोहादि कहलाता है । क्योंकि वह संसार विषयक होने से असद्विषयक है ।

नोच्छिद्यते परं प्रेम वृत्त्यभिव्यञ्जितं पुनः ।
तदेतत्सकलं पूर्वं विस्तरेणोपपादितम् ॥७५॥

परम प्रेम का अनुच्छेद पहले ही विस्तार पूर्वक कहा जा चुका है ।

गौणी छायात्मिका भक्तिर्वृत्तेरनुविधाविनी ।
वर्धते लिश्यति क्वापि क्वापि सैषा विनश्यति ॥७६॥

गौणी भक्ति छायात्मिका होने से वृत्त्यनुविधाविनी होती है । वृत्ति के अनुरूप कहीं बढ़ती, घटती और नष्ट भी होती है ।

सा च सद्विषयत्वेन नूनं पुण्यात्मिका भवेत् ।
अर्थेच्छादि प्रयुक्तत्वात्सोच्छेदा फलतो भवेत् ॥७७॥

गौणी सद्विषयक होने से अवश्य पुण्यरूपिणी है अतः ज्ञान अर्थ आदि फल प्राप्त होगा परन्तु अर्थेच्छादि प्रयुक्त होने से फलोत्तर उच्छिन्न भी होगी ।

वृत्त्यात्मैव परः प्रेमावर्धिष्णुरिति यन्मतम् ।
तत्रापि च फलं प्रेमेत्यानन्त्यं तस्य युज्यते ॥७८॥

एक मत पहले दिखाया था कि परम प्रेम वृत्त्यात्मक ही है और वह बढ़ता रहता है। उस मत में भी गौण भक्ति का ज्ञानादि फल के समान भक्तीतर फल नहीं है। जो फलात्मिका भक्ति है वह भी भक्तित्व सामान्य से भक्ति फलक है इस प्रकार अनवस्थारूप से अनन्त भक्ति हो जाती है। परन्तु गौणी भक्ति का भक्तीतर अर्थ ज्ञानादि फल होने से फल प्राप्ति के बाद भक्ति के रहने का कोई कारण नहीं रहता है। अतः वह उच्छिन्न हो जाती है।

क्वचित्सद्विषयत्वेन भगवत्करुणावशात् ।
गौण्या भक्त्यापि सद्भक्तिर्जायेतेत्यपि सांप्रतम् ॥७९॥

हाँ, गौणी भक्ति सद्विषयक होने से कभी भगवत्कृपा के कारण सद्भक्ति की भी प्राप्ति होना न्याय्य है।

अतोऽनुपदमाख्याय गुणकामसमुज्झिताम् ।
गौणीं विरुद्धवत्प्राह गुणकामसमन्विताम् ॥८०॥

इस अभिप्राय से ही अनुपद ही प्रेम को गुण रहित और कामना रहित कहकर तुरत ही विरुद्ध जैसे गुण और कामना से युक्त भक्ति का निरूपण किया।

गुणभेदादित्यनेन गुणयुक्त्वं प्रदर्शितम् ।
आर्त्तादिभेदादिति च कामनायुक्त्वमीरितम् ॥८१॥

ॐ

सूत्र में 'गुण भेदात्' से गुणयुक्तत्व दिखाया और 'आर्त्तादिभेदात्' से कामनायुक्तत्व दिखाया।

इति गौणीभक्तिनिरूपणम् ।

समाप्तश्चायं द्वितीयः साधन खण्डः ॥



लेखक की अन्य कृतियाँ

वेदान्तमन्दारतरुः सव्याख्यः
चित्सुखीव्याख्या
खण्डनव्याख्या
गौडब्रह्मानन्दीव्याख्या
न्यायसूत्रभाष्यार्थसंग्रहः
प्रशस्तपादभाष्यार्थसंग्रहः
न्यायसिद्धान्तरत्नमाला
अनुमितिगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
अवयवगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सत्प्रतिपक्षगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
प्रामाण्यवादगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
साधारणगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सव्यभिचारगादाधरीतत्त्वप्रदीपः
सामान्यलक्षणाजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
केवलान्वयिजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
व्याप्त्यनुगमजागदीशीतत्त्वप्रदीपः
व्युत्पत्तिवादतत्त्वप्रदीपः
शक्तिवादतत्त्वप्रदीपः
सर्वदर्शनसिद्धान्ततत्त्वविवेकः

महिम्नःस्तोत्र हरीहरपक्षीय अनुवाद
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक अनुवाद
शिवसंकल्पवार्त्तिक
शिवसंकल्पप्रवचनसार (गुजराती)
गायत्रीप्रवचन
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक प्रवचन
पञ्चदशीप्रवचन (कुछ प्रकरणोंपर)
गीताप्रवचन (कुछ अध्यायों पर)
भागवतप्रवचन (कुछ अध्यायोंपर)
भागवतसार
पञ्चीकरणवार्त्तिक अनुवाद
गोपीगीत दो अर्थ
मुण्डकप्रवचन
ईशावास्यप्रवचन
ईशावास्यभाष्यबृहद्व्याख्या
अष्टावक्रगीताप्रवचन
भगवद्गीताप्रकरणसार
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलि
माण्डूक्यभाष्यबृहद्व्याख्या
ईशावास्यरहस्यविवरणम्
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः

[अन्यान्य ग्रन्थ भी मौलिक तथा व्याख्यात्मक क्रमशः प्रकट होंगे ।]